नये निबन्ध

समय-सारथी

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

समय-सारथी

अढ़ाई हज़ार वर्षों के प्रमुख १२ व्यक्तियों की जीवनियाँ ही नहीं—इस अवधि की प्रमुख मनःस्थितियों का भी उल्लेखन

मोहन राकेश

राधाकृष्ण प्रकाशन

आवृत्ति : 1977

मूल्य
4 रुपये

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन
2 अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

मुद्रक
जे० के० आफ़सेट प्रिंटर्स
दिल्ली-110006

सुदूर अतीत : सालते प्रश्न
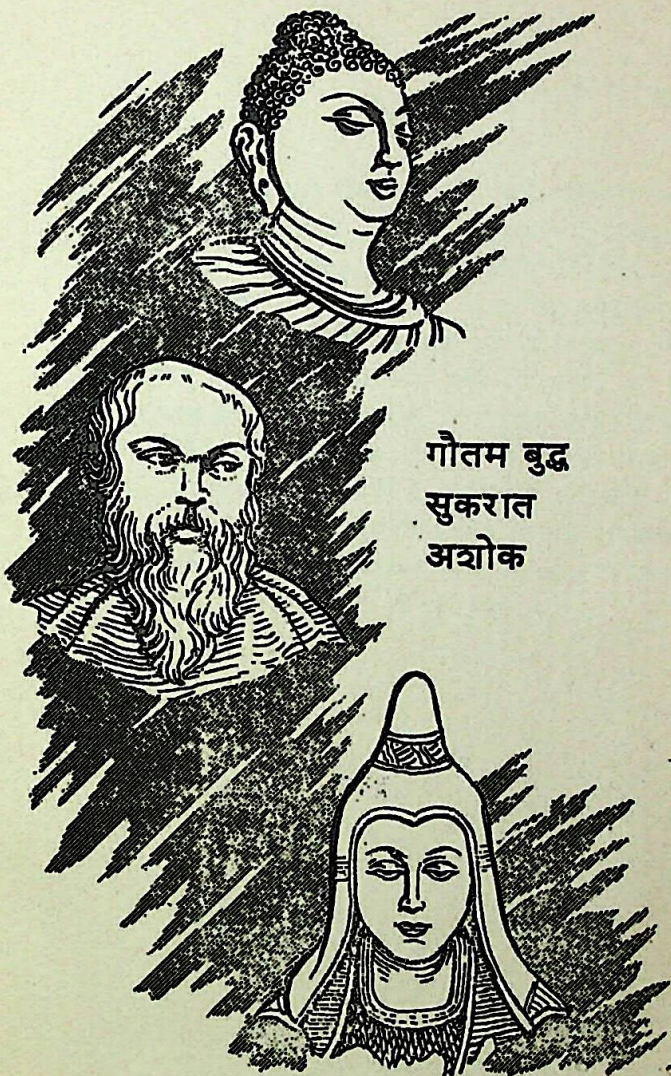
गौतम बुद्ध
सुकरात
अशोक

दो शब्द

इस संकलन में दी गयी जीवनियाँ केवल कुछ व्यक्तियों का इतिहास नहीं, एक तरह से पिछले अढ़ाई हज़ार वर्षों की प्रमुख मन:स्थितियों का भी इतिहास है। सुदूर अतीत में गौतम बुद्ध के मन में उठे प्रश्नों से लेकर वर्तमान में मार्टिन लूथर किंग की हत्या तक कहीं एक शृंखला है जिसे यहाँ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए ये जीवनियाँ अपने ऐतिहासिक क्रम में हैं। हर काल की विशेष मन:स्थिति के अनुसार उनका चुनाव किया गया है। पुस्तक का खण्डों में विभाजन भी उसी आधार पर है। भारतीय मन:स्थितियों के अध्ययन के साथ-साथ हर समय की समानान्तर विश्व-मन:स्थितियों का भी अध्ययन सम्भव हो सके, उसके लिए हर खण्ड में दो भारतीय जीवनियों के साथ एक जीवनी विदेश से ले ली गयी है।

क्रम

गौतम बुद्ध

एक बच्चा जब बड़ा होने लगता है, तो उसके मन में बार-बार प्रश्न जागता है, 'यह क्या है ?' बड़े होने पर यह प्रश्न एक दूसरे प्रश्न में बदल जाता है, 'यह क्यों है ?' अपनी चेतना के विकासकाल में मनुष्य ने कितनी ही बार कितनी ही तरह से इस प्रश्न का सामना किया है। उत्तर ढूंढ़ने के प्रयास में कभी अपने भौतिक अस्तित्व को नकारा है और कभी उसी के रहस्यों का उद्घाटन किया है। फिर भी उसे सालने वाला यह प्रश्न किसी-न-किसी रूप में उसके लिए चुनौती बना ही रहा है।

इतिहास के पूर्व-काल में इस प्रश्न से साक्षात्कार करने वालों में से थे गौतम बुद्ध। वे उन महान् व्यक्तियों में से थे जो किसी भी प्रश्न का समाधान केवल अपने लिए नहीं खोजते। पूरे विश्व-जीवन का हित और कल्याण उनका उद्देश्य रहता है।

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के महाराजा शुद्धोदन के घर में इनका जन्म हुआ। वैशाख पूर्णिमा के दिन बालक का जन्म होने के साथ कई ऐसे शगुन हुए कि उसका नाम सिद्धार्थ रख दिया गया—सिद्धार्थ अर्थात् सभी अर्थ सिद्ध करने वाला।

परन्तु ज्यों-ज्यों सिद्धार्थ बड़े होने लगे, पिता के मन में एक आशंका भी व्याप्त होने लगी। वे साधारण बालकों की तरह खेल-कूद में व्यस्त न रहकर प्रायः अपने में ही खोए रहते। जहां एक ओर उनकी असाधारण

प्रतिभा विकसित होकर सामने आ रही थी, वहाँ दूसरी ओर उनका यह गम्भीर रूप था जो उनकी अवस्था के साथ बिलकुल मेल नहीं खाता था। कुछ ज्योतिषियों ने भी बतलाया था कि वह बालक बड़ा होकर संसार से विरक्त हो सकता है। महाराजा शुद्धोदन का यह विशेष प्रयत्न रहने लगा कि जैसे भी हो सिद्धार्थ को हर तरह के आमोद-प्रमोद के वातावरण में रखा जाय।

कुमार की शिक्षा आरम्भ हुई। कुशाग्र बुद्धि होने से बहुत शीघ्र उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन कर लिया, साथ ही शस्त्रास्त्र-विद्या में भी निपुण हो गये। परन्तु उनकी प्रतिभा से बड़ी थी उनकी संवेदना। किसी भी जीव का दुःख उनसे नहीं देखा जाता था। राज्य के एक उत्सव में बैलों की पीठ पर चाबुक पड़ते देख उन्हें लगा जैसे वह मार उन्हीं के शरीर पर पड़ रही हो। वे पसीना-पसीना हो गये। उनकी आँखों में आँसू भर आये।

कुछ समय बाद एक और घटना हुई। वे वन में टहल रहे थे जब एक आहत हंस छटपटाता हुआ उनके पैरों के पास आ गिरा। हंस का तीर से बिंधा शरीर और उसकी छटपटाहट देखकर उनका हृदय उसी तरह छटपटाने लगा। हंस को उन्होंने बाँहों में ले लिया। तीर उसके शरीर से निकालकर अपने शरीर में चुभोया ताकि उसकी वास्तविक पीड़ा का अनुभव कर सकें। लहू की तड़पती बूँदें बाहर फूट आयीं। तभी उनका चचेरा भाई देवदत्त पास आ गया। हंस उनके बाण से आहत हुआ था। देवदत्त ने हंस की माँग की, तो सिद्धार्थ ने देने से इन्कार कर दिया। कहा कि उस पर मारने वाले का उतना अधिकार नहीं है जितना बचाने वाले का है। विवाद महाराजा शुद्धोदन के सामने पहुँचा। उन्होंने सोच-विचार के अनन्तर निर्णय दिया कि दोनों आमने-सामने खड़े हो जायँ और पक्षी को बीच में छोड़ दिया जाय। वह उड़कर जिसके पास चला जाय, वही उसका अधिकारी होगा। जब ऐसा किया गया, तो पक्षी तुरन्त उड़कर राजकुमार सिद्धार्थ की बाँहों में लौट आया। उन्होंने उसका उपचार करके उसे खुले आकाश में छोड़ दिया।

कुमार युवा हो चुके थे, परन्तु कोई भी आमोद-प्रमोद उनके मन को

नहीं बांध पाता था। उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती गम्भीरता और विरक्ति से पिता की चिन्ता भी बढ़ती जा रही थी। आखिर इसका कारण क्या है? क्या ऐसा कोई भी उपाय नहीं हो सकता जिससे कुमार का मन सांसारिक आकर्षणों में रुचि लेने लगे? क्यों ऐसा है कि कुमार का मन बसंत के बाद पतझड़ आते देखता है, तो पहले से कहीं गहरी उदासी में खो जाता है?

महाराजा शुद्धोधन ने हर तरह से सावधानी बरतनी शुरू की। कुछ भी ऐसा कुमार की आँखों के सामने नहीं पड़ना चाहिए जो असुन्दर हो। कुछ भी ऐसा नहीं जो जीर्ण-शीर्ण या सूखा-मुरझाया हो। कुमार की आँखें केवल सुन्दरता को देखें और सुंदरता के सारे साधन उनके आस-पास जुटा दिये जायँ। कुमार की इच्छाओं का बहुत ध्यान रखा जाय। वे जो भी इच्छा प्रकट करें, वह तुरन्त पूरी कर दी जाय।

और एक दिन कुमार ने इच्छा प्रकट की नगर-भ्रमण की। महाराज की आज्ञा हुई कि पूरे नगर को फूलों से सजा दिया जाय। स्थान-स्थान पर संगीत-नृत्य का आयोजन हो। कुमार की नगर यात्रा में ऐसा कुछ भी उनके सामने न पड़े जो विकृत या कुरूप हो।

यात्रा आरम्भ हुई। प्रजा में बहुत उत्साह था। सब-कुछ वैसे ही था जैसा महाराज ने चाहा था। कुमार शान्त रहकर देखते रहे। परन्तु लौटते समय सहसा उनकी दृष्टि एक जगह अटक गयी—लाठी पर झुका एक वृद्ध···जर्जर शरीर···कांपती हुई अस्थिर टाँगें।

सारथी ने पूछा, "वह कौन है?"

उत्तर मिला, "एक बूढ़ा व्यक्ति।"

व्यक्ति बूढ़ा क्यों होता है? कुमार ने जानना चाहा। परन्तु इसका उत्तर सारथी के पास नहीं था।

रथ तेज़ी से राजभवन की ओर लौटने लगा। पर कुछ ही दूर जाकर कुमार की आँखें फिर रुकीं। रुक-रुककर साँस लेता, तड़पता, एक व्यक्ति। पूछने पर सारथी ने बतलाया कि वह एक असाध्य रोगी है। वह रोगी क्यों है, कुमार ने जानना चाहा। परन्तु इसका भी उत्तर सारथी के पास नहीं था।

नगर की सजावट के बीच से कुमार विक्षुब्ध मन लौटे। रोग और बुढ़ापा—यदि इनसे बचा नहीं जा सकता तो अपने शरीर की सुन्दरता का मान किसलिए? यदि अन्त में उनके शरीर के साथ भी यही होना है, तो··· ?

राजभवन में लौटकर कुमार की अस्थिरता बढ़ती गयी। जो प्रश्न मन में उठे थे, वे और कई-कई प्रश्नों को जन्म दे रहे थे। व्यक्ति जन्म क्यों लेता है? जन्म लेकर युवा क्यों होता है? युवा होने के बाद जरा-जीर्ण क्यों होता है? रोग-ग्रस्त क्यों होता है? जीवन की इस सारी भुल-भुलैया का अर्थ क्या है?

अगले दिन सारथी को लेकर कुमार फिर भ्रमण को निकल गये। नगर की सीमा पर पहुँचकर जो दृश्य देखा, उससे उनके मन में जड़ता-सी घिर आयी। चार व्यक्ति एक शव को उठाये जा रहे थे। कुमार देखते रहे, देखते रहे। ऐसा क्यों है कि चार जने एक शरीर को ढोकर लिये जा रहे हैं? इस बार फिर उन्होंने सारथी से प्रश्न किया। उत्तर मिला कि उस व्यक्ति की मृत्यु हो गई है। उसके शव को दाह के लिए ले जाया जा रहा है।

मृत्यु? दाह? अर्थात् एक दिन आता है जब व्यक्ति की साँस रुक जाती है और वह जीवित नहीं रहता? तब उसी शरीर को, जिसे रात-दिन सँवारा जाता है, जलती लकड़ियों को सौंप दिया जाता है? वह शरीर राख हो जाता है? तो फिर उसके होने की सार्थकता ही क्या है। व्यक्ति को शरीर मिलता ही किसलिए है? और शरीर पाकर वह जो 'सुख' प्राप्त करना चाहता है, वह सुख सुख किस तरह है? यदि वह सुख नहीं है तो वास्तविक सुख क्या है? शान्ति क्या है? वह शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?

कुमार अन्तर्मुख रहते ··सोचते रहते। विलास के साधनों के बीच उनका मन उचाट रहता। महाराजा शुद्धोदन देखते और अधीर हो उठते। कोई-न-कोई तो उपाय होना ही चाहिए जिससे कुमार के मन की विरक्ति दूर की जा सके। शायद गृहस्थ जीवन के सुख में कुमार का मन रम जाय; सुन्दर-सी पत्नी पाकर उनके सोचने की दिशा बदल जाय! और इसी

विचार से शीघ्र ही उन्होंने राजकुमारी यशोधरा से कुमार का विवाह कर दिया।

सुन्दर पत्नी। पति का मुँह देखकर बात करने वाली। गृह-कार्यों में दक्ष। पति की सेवा में अपने जीवन की सार्थकता मानने वाली। कुमार का मन कुछ-कुछ बँधा। उनके होंठों पर हल्की मुसकराहट दिखायी देने लगी। यशोधरा ने एक पुत्र को जन्म दिया। राहुल के प्रति स्नेह एक और आधार बन गया। महाराजा शुद्धोदन को आशा होने लगी, अब कुमार के मन से अंदर की चिंताएँ हट जायेंगी। वे व्यर्थ के प्रश्नों में न उलझकर जीवन को जीवन की तरह स्वीकार करने लगेंगे। परन्तु·· एक दिन कुमार सामने आ गये। पिता से कहा कि उन्हें घर से जाने की आज्ञा चाहिए। पिता ने पूछा, 'क्यों ?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि उन्हें मोक्ष और शान्ति की खोज है। तब तक एक संन्यासी से उनकी बात हो चुकी थी। अपनी आशंकाएँ संन्यासी के सामने रखने पर उन्हें यही सुझाव मिला था कि जीवन के कष्टों के निवारण का एक ही उपाय है --मोक्ष की साधना। और उस साधना की पहली सीढ़ी है—गृह-त्याग।

पिता ने रोका। कहा, मोक्ष की साधना यौवन बीतने के बाद करनी चाहिए। परन्तु संन्यासी ने कहा था—यौवन ही समय है; अंगों में शक्ति रहते ही साधना की जा सकती है। सिद्धार्थ अपने संकल्प को लेकर अविचल रहे। जब शरीर जरा-जीर्ण हो जायेगा, तब क्या साधना होगी ?

आषाढ़ पूर्णिमा का प्रथम पहर। राजभवन में सब लोग सो चुके थे। कुमार की आँखों में नींद नहीं थी। वे धीरे-से उठे। यशोधरा को देखा—निश्चिन्त भाव से सो रही थी। राहुल पर दृष्टि पड़ी। माँ से सटकर नींद में खोया था। मन हुआ, पुत्र के माथे को सहला दें। एक बार गाल चूम लें, परन्तु आशंका ने रोक लिया। यशोधरा जाग गई, तो ? मन की आतुरता पर वश पाकर बाहर निकल आये। सारथी छंदक से घोड़ा निकलवाया और अपनी खोज के अनिश्चित मार्ग पर निकल पड़े। छंदक दूसरा घोड़ा लेकर पीछे गया। कई योजन निकल आने के बाद कुमार नदी-तट पर रुके। राजसी वेश उतार दिया, तलवार से केश काट लिये। छंदक तथा घोड़े

चेतक से विदा लेकर वे गम्भीर वन की गहराइयों में आगे बढ़ गये।

मन भटक रहा है। उसे समाधान चाहिए। लेकिन कैसे? कहाँ? किस रूप में?

राजा बिंबसार से भेंट हुई। अनेक सिद्ध और तपस्वी मिले। मोक्ष का मार्ग क्या है? जीवन की यातनाओं से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है? सिद्धार्थ ने एक-एक से विचार-विमर्श किया। उनसे प्रश्न पूछे। उनकी साधना का बीज जानना चाहा। परन्तु कहीं भी मन को सन्तोष नही हुआ। कालाभ की शिष्यता की। रुद्र की शिष्यता की। पर लगा कि नहीं, अपना मार्ग स्वयं खोजना होगा। मुक्ति केवल मार्ग पूछने से नहीं, अपनी तपस्या से प्राप्त हो सकती है। बिना अपने शरीर को तपस्या की अग्नि में तपाये कुछ भी सम्भव नहीं। उन्होंने तप आरम्भ किया। सात वर्ष। सर्दी-गर्मी और भूख-प्यास से उदासीन वे सत्य के बिन्दु तक पहुँचने के लिए अपने शरीर को सुखाते रहे। पाँच जिज्ञासु भक्त उनके शिष्य भी बन गये। परन्तु उनका मन अब भी शान्त नहीं हुआ। लगा कि जिस सत्य की उन्हें खोज है, वे अभी उस तक नहीं पहुँच पाये। मोक्ष की साधना में शरीर निर्बल हो गया है, बस। उन्हें तप-व्रत भी निस्सार लगने लगा। सोचा यह भी छोड़ देंगे। पास ही निरंजना नदी बहती थी। नदी में स्नान किया। फिर वहीं एक पेड़ के नीचे बैठ गये। तभी सुजाता नाम की एक युवती उनके पास आयी। वह एक कटोरी में उनके लिए खीर लायी थी। खीर खाकर सिद्धार्थ का शरीर कुछ स्वस्थ हुआ। परन्तु उनके शिष्यों को यह बात अप्रिय लगी और वे उन्हें छोड़कर चले गये। सिद्धार्थ वहीं बैठे रहे। बैठे-बैठे ही उनका मन समाधि की स्थिति में चला गया। शरीर से हटकर मन की साधना। और इसी साधना, इसी समाधि में उन्हें उसी बोधिवृक्ष के नीचे सत्य का साक्षात्कार हुआ।

एक नया जीवन। मन में अब संशय नहीं थे। शंकाएँ नहीं थीं। उन्हें बोध हो चुका था, इसलिए वे बुद्ध थे। सुख-दुःख से ऊपर। राग-विराग से दूर। मन में एक प्रकाश था - अपने भौतिक अस्तित्व से आगे की स्थिति को पा लेने का। और इस प्रकाश को उन्हें केवल अपने तक नहीं रखना

था; दूसरों तक फैलाना था। उनके पहले के पाँचों शिष्य अब फिर उनके साथ आ गये। उन्हें साथ लेकर वे सारनाथ की ओर चल दिये।

जीव-जीव के लिए मोक्ष। जीव-जीव का कल्याण। अपनी अमृतवाणी से ये उपदेश देते हुए उन्होंने अब कई शिष्य बना लिये। ये शिष्य भिक्षु कहलाते थे। उनका मार्ग धर्म का मार्ग था। उसके प्रचार के लिए जो भिक्षुओं का संगठन था, वह संघ कहलाता था। संघ में स्त्रियाँ और पुरुष सभी सम्मिलित हो सकते थे। जाति और वर्ण का भी कोई भेद नहीं था। चारों ओर अब यह समवेत स्वर गूँजने लगा—बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।' वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष सभी महीने बुद्ध और उनके शिष्य धर्म-प्रचार में व्यतीत करते। मोक्ष, आर्य, सत्य, अमरत्व—जन्म-दुःख, जरा-दुःख, व्याधि-दुःख तथा मृत्यु-दुःख, इन सभी से बचाव का उपाय। दुःखों का कारण व्यक्ति की लालसाएँ हैं। विषयों में आसक्ति तथा अतृप्त वासनाएँ, इन्हींके कारण व्यक्ति यातनाएँ भोगता है। इनसे बचा जा सके, तो स्वतः सब दुःखों का नाश हो सकता है। आत्मा का निर्वाण चाहिए। व्यक्ति का कर्त्तव्य है, निर्वाण के लिए साधना करना। फलतः यही बुद्ध की दृष्टि थी, यही दर्शन था। जन-कल्याण के लिए उन्होंने अष्टांग मार्ग का प्रतिपादन भी किया, अर्थात् अच्छी दृष्टि, अच्छे विचार, मधुर वाणी, शुभ कर्म, शुभ प्रयास, सावधानता, एकाग्रता, पवित्र मन-वचन कर्म।

उनके दर्शन का एक और पक्ष था अहिंसा। हिंसा बहुत-से दुःखों को जन्म देती है, इसलिए उसका परित्याग दुःख-निवारण का ऐक बड़ा उपाय हो सकता है। यह बुद्ध का बताया सत्य और अहिंसा का मार्ग ही था जिसे बाद में चलकर अधिक क्रियात्मक रूप से महात्मा गांधी ने अपना लिया।

बौद्ध धर्म का प्रचार बड़ी तीव्रता से हो रहा था। साधारण-से-साधारण व्यक्ति से लेकर राजा-महाराजा तक महात्मा बुद्ध की शिष्यता स्वीकार कर रहे थे। वे स्वयं स्थान-स्थान पर जाकर लोगों को उपदेश देते थे, उन्हें दीक्षित करते थे। जहाँ स्वयं नहीं जा पाते थे, वहाँ अपने शिष्यों को भेज देते थे, इस आदेश के साथ कि वे सबके मन में जीव-करुणा का भाव

संचारित करें। उन्हें सत्य और अहिंसा का मार्ग दिखलाएँ। महात्मा बुद्ध के विचारों में कुछ ऐसी शक्ति भी थी कि शीघ्र ही उनका दर्शन समुद्र-पार की सीमाओं को छूने लगा। आज भी बौद्ध-धर्म केजितनेअनुयायीभारत में हैं, उससे कहीं बड़ी संख्या में बर्मा, लंका, थाइलैंड तथा जापान जैसे देशों में हैं।

बुद्ध जीवन-भर अपने विचारों की सान पर अपने कोतथाअपने शिष्यों को कसते रहे। अहंकार और मलिनता से मन को बचाये रखने की दृष्टि से उन्होंने अपने साथ कई प्रयोग किये। एक प्रयोग था आम्रपाली के यहाँ भोजन के लिए निमंत्रण स्वीकार करना। आम्रपाली वेश्या थी, पर उसके जीवन की गति जैसे बुद्ध वाणी की ही राह देख रही थी। बुद्धके अनुग्रह के बाद वह भी संघ की शरण में आ गई।

उनके जीवन में चुनौती का एक और अवसर आया जब उन्हें अपने पिता की ओर से कपिलवस्तु आने का निमन्त्रण मिला। पुत्र की ख्याति से परिचितहोते हुए भी उन्हें भिक्षु-वेश में देखकर पिता का हृदय संतप्त हो उठा। उनका घर-घर जाकर भिक्षा माँगना, यह पिता को अपनेक्षत्रिय गर्व के अनुकुल नहीं लगा। पिता के संताप को देखते हुए बुद्ध ने उन्हें भी उपदेश दिया। महाराजा शुद्धोदन भी इस तरह संघ की शरण में आ गये। उन्हें राजपरिवार में उपदेश देने ले गये। वहाँ सब लोग आये, यशोधरा नहीं आयी। यशोधरा के पास बुद्ध स्वयं गये। यशोधरा के शरीर पर कोई आभूषण नहीं था। वह पैर छूने के लिए झुकी, तो सिर से आँचल सरक गया। केश कटे हुए थे। बुद्ध अवाक् भाव से उसे देखते रहे। फिर उसकी सच्ची साधना के लिए उसकी सराहना कर वहाँ से चलने को हुए, तो यशोधरा ने राहुल से कहा, "पुत्र, वे भिक्षुओं के अग्रणी तुम्हारे पिता हैं। तुम इनसे अपना स्वत्व माँगो।"

राहुल की माँग पर बुद्ध उसे अपने साथ न्यग्रोधा ग्राम ले गये। वहाँ उसे पीले वस्त्र पहनाकर तथा उसके केश कटवाकर उसे भी संघ में सम्मिलित कर लिया।

८० वर्ष की अवस्था में महात्मा बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य आनन्द

को बुलाकर उपदेश दिया, "जैसे गंगा-यमुना आदि नदियाँ अलग-अलग प्रदेशों से निकलकर भी एक ही सागर में मिल जाती हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन सभी वर्णों को एक ही संघ में मिल जाना चाहिए।"

और इस तरह धर्म-मार्ग के साथ-साथ एक सामाजिक दृष्टि देकर बुद्ध महा-निर्वाण प्राप्त कर गये।
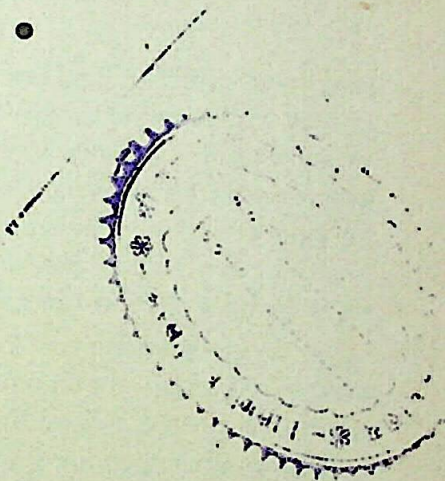
सुकरात

सुकरात क्या आत्मवीर थे? यह प्रश्न एथेन्स की जनता में तब चिन्तन का विषय बना जब सुकरात को दफना दिया गया। यही जनता सुकरात को कोसती रही थी। उस व्यक्ति से उसने एक अलगाव बनाये रखा था। परन्तु उस व्यक्ति के न रहने से यह प्रश्न एक सलीब की तरह बांहें फैलाये उस जनता के सामने आ खड़ा हुआ था। सुकरात क्या थे? एथेन्स की जनता ने यह काम लेस्सीपीस नामक व्यक्ति को सौंपा कि वह खोज-बीन करे कि सुकरात के जीवन का मुख्य उद्देश्य क्या था।

वस्तुत: बहुत कम लोग सुकरात के जीते-जी जान सके थे कि सुकरात का जीवन उनके आदर्शों और सिद्धान्तों का सजीव उदाहरण था। जिस तरह प्लेटो ने सुकरात के दर्शन-पक्ष की व्याख्या की है, उससे पता चलता है कि सुकरात का जीवन मानव के दार्शनिक चिन्तन का एक आधार-बिन्दु था। सुकरात ने दार्शनिकता को जैसे आकाश से उतारकर धरती पर ला स्थापित किया था।

यों सुकरात की बाहरी आकृति को देखकर किसी को उनके दार्शनिक या साधारण विद्वान् तक होने का विश्वास नहीं हो सकता था। मोटे होंठ, चपटी नाक और घूरती हुई आँखें। एक बार एक आकृति-विशेषज्ञ ने उनका चेहरा देखते ही कह दिया था कि वे एक भ्रष्ट, कपटी, धूर्त, निर्लज्ज और चरित्रहीन व्यक्ति हैं। विशेषज्ञ के इस कथन पर सुकरात के

प्रशंसक अत्यधिक उत्तेजित होकर उस विशेषज्ञ पर टूट पड़े थे। सुकरात उन्हें रोक न लेते, तो विशेषज्ञ की हड्डी-पसली एक हो गयी होती। परन्तु सुकरात ने कहा कि 'विशेषज्ञ ने जो कुछ कहा है वह गलत नहीं है। मैंने अपनी बुरी प्रवृत्तियों के कार्य-कारण का विश्लेषण करते हुए उन्हें सुधारा है।'

सुकरात के इस कथन का वास्तविक अर्थ यह था कि व्यक्ति स्वयं ही अपने हर कार्य के लिए उत्तरदायी है। उसके जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह अपने कार्य-कलाप को समझे, जाने और एक-एक क्षण की परतें उठाकर अपना जीवन-दर्पण देखने की कोशिश करे। अपना पूरा जीवन सुकरात इसी तथ्य की खोज करते रहे। यह आत्म-दर्पण की खोज ही उन्हें सालती रही। व्यक्ति की आत्मा महान् कैसे हो सकती है? जीवन को सुधारा कैसे जा सकता है। प्लेटो के कुछ लिखित संवाद हमें सुकरात को समझने में सहायता देते हैं। प्लेटो ने सुकरात की युक्तियों तथा उनके जीवन-दर्शन को कुछ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से हम तक पहुँचाया है।

लेखक जेनोफोन भी सुकरात के उन इने-गिने साथियों में से था जिसने सुकरात के अन्तिम भाषण लिपि-बद्ध किये। उन भाषणों की प्रतिध्वनि आज भी ४६९ ई०पू० यूनान के उस स्वर्णकाल की याद दिलाती है जब एथेन्स नगर में सुकरात का जन्म हुआ। सुकरात के पिता एक साधारण शिल्पकार थे। माँ एक साधारण दाई थी। सुकरात भी अपने को 'अर्धरात्रि के विचारों की धाय' कहते थे, क्योंकि रात-रात-भर जागकर सोच में डूबे हुए वे अच्छे और बुरे का विश्लेषण करते रहते थे। एक विचारक होने के साथ-साथ वे वीर भी थे। सामाजिक जीवन के कई संघर्षों में उन्होंने निर्भय आत्मवीर के रूप में भाग लिया। नागरिक जीवन के आपत्काल में वे डेलियम और एम्फीपोलिस नामक नगरों में निर्भीकतापूर्वक डटे रहे।

परन्तु इस निर्भीक व्यक्तित्व से हटकर उनके जीवन का मुख्य पक्ष था जीवन व्यतीत करने की विधि के सम्बन्ध में सोचना, उपदेश देना। अपने समय के वे सबसे बड़े ज्ञानी थे। बहुत सवेरे उठने की जैसे उन्हें सनक थी। उठते ही भ्रमण के उद्देश्य से घर से निकल पड़ते। खुले में नंगे बदन या नाम

मात्र के वस्त्रों में घूमते रहते । फटेहाल इस व्यक्ति को पहनने-ओढ़ने या खाने-पीने से कोई सरोकार ही नहीं था । उन-जैसा बदशक्ल या बदहाल कोई भी व्यक्ति एथेन्सवासियों को दीख जाता, तो वे कहते, 'देखना सुकरात चले आ रहे हैं।' सुकरात अपनी यह ख्याति जानते थे, परन्तु लोगों की ऐसी बातों की वे चिन्ता नहीं करते थे। बाहर गर्मी है या सर्दी, गले में कोट है या कमीज, पाँव में जूता है या नहीं, इस सबकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। उन्हें लगता था कि मनुष्य का यदि कोई महत्व है, तो मनुष्य-रूप में ही है—बाहर के उपकरणों से कोई मनुष्य अच्छा या बुरा नहीं बनता ।

और अपनी इस जीवन-दृष्टि के कारण वे एथेन्सवासियों में बदनाम थे । लोग उन्हें फूहड़ कहते थे । उनकी पत्नी से यह सब सहन नहीं होता था । वह कभी उनपर झल्लाती, कभी लोगों पर चिल्लाने लगती । सुकरात उसे शान्त करने के लिए समझाते कि उसका पति दूसरे एथेन्सवासियों जैसा कहाँ है ? वह अगर भौतिक पदार्थों में रुचि लेने वाला होता, और उसे अच्छा खाना, अच्छा पहरावा और अच्छा व्यवहार मिलता, तो वह कब का एथेन्स छोड़कर भाग गया होता ।

इस तरह एथेन्सवासी चाहे सुकरात की कितनी खिल्ली उड़ाते, उन्हें तिरस्कृत करते, सुकरात सब-कुछ चुपचाप सह लेते । यहाँ तक कि वे शारीरिक कष्ट को भी उतनी ही शान्ति से झेल लेते जि[illegible] शान्ति से मान-अपमान को । न तो सुकरात को अपनी देह से कोई [illegible] था, न उनके मन में देश-विदेश में पर्यटन की इच्छा थी और न ही यह [illegible] कि देश में कहाँ क्या हो रहा है । इन निरर्थक बातों से अपने को [illegible] अलग रखकर वे केवल अपने उद्देश्य की साधना में डूबे रहते थे । [illegible] उद्देश्य यह था कि लोगों में आत्म-जागृति पैदा हो । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सोच में डूबे, गलियों-बाजारों में चक्कर काटते रहते । जहाँ अवसर मिलता, लोगों को समझाने की कोशिश करते और लोगों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर देते । पूछने वाले लोग कौन हैं, कैसे हैं, इसकी वे चिन्ता न करते । जहाँ जैसी भी भीड़ मिल गयी, उसी से बातें करने लगते । इस तरह छोटे-बड़े तथा उच्च-नीच सभी वर्गों के लोग सुकरात की सुनते । कई

बार जन-समुदाय बेसिर-पैर के सवालों से सुकरात को बेहद परेशान करता परन्तु सुकरात के पास हर सवाल का कुछ-न-कुछ जवाब होता। लोग उत्तर-प्रत्युत्तर का ढोंग रचते, सुकरात को झूठा और मक्कार साबित करने की चेष्टा करते, लेकिन सुकरात अपने पक्ष का प्रतिपादन करते रहते। दूसरों के षड्यन्त्रों से वे अपने को अनजान बनाये रखते। और सरल-से-सरल उदाहरण प्रस्तुत करके हर वाद-विवाद में लोगों को चकित कर देते। बहुत बार उनके शब्दों में तीखा व्यंग्य भी रहता—सुकराती व्यंग्य। और व्यंग्य की तीखी धार के सहारे वे लोगों को अपने मन्तव्य की ओर खींच लाते। उनका कहना था कि 'आन्तरिक अच्छाई' के बिना आदमी दो कौड़ी का है। सुकरात जानते थे कि उनके अधिकांश श्रोता उनकी बातों पर ध्यान नहीं देते, परन्तु उन्हें यह विश्वास भी था कि जिस किसी के अन्दर 'अच्छाई' का बीज है, वह उनकी बात सुनकर सही मार्ग पर चल निकलेगा। वे मानते थे कि भलाई का ज्ञान अपने में ही वरदान है। अतः उनकी कही बातें व्यर्थ कदापि नहीं जातीं। वे लोगों को ज्ञान देना चाहते थे, क्योंकि उनके अनुसार अज्ञान विष है और ज्ञान वह औषधि जिससे मनुष्य अपने पर तथा दूसरों पर श्रद्धा रखना सीख सकता है।

परन्तु एथेन्सवासियों को सुकरात को पीड़ित करने में सुख मिलता था। इसका एक कारण यह भी था कि वे लोग सुकरात की युक्तियों की ताब नहीं ला सकते थे। वे सुकरात पर झुंझलाते और उनसे अशोभनीय व्यवहार करते थे। कई बार सुकरात को लोगों से लातें और चपतें खानी पड़तीं, परन्तु वे सारी शारीरिक यन्त्रणाओं को चुपचाप सह जाते। एक बार एक व्यक्ति ने उनके सिर के बाल नोंच लिये, परन्तु वे तब भी पूर्ववत खड़े अपनी बातें कहते रहे। इस तरह के शारीरिक त्रास से जो स्वास्थ्य की क्षति होती, उसे वे व्यायाम से पूरी कर लेते। यों उनका स्वास्थ्य अच्छा था—उतना ही जितनी कि इच्छाशक्ति प्रबल थी। वे निर्भीक भाव से बड़े-बड़े निर्णय ले लेते और उनका पालन अक्षरशः अपने कथनानुसार करते।

जिस समय वे एथेन्स की परिषद के सदस्य चुने गये उस समय दस

सेनापतियों को अधिकारियों ने एक अपराध के सिलसिले में दण्ड दिया था। अकेले सुकरात ने अपना मत दण्ड के विपक्ष में दिया। एथेन्सवासियों ने सुकरात का भारी विरोध किया कि सुकरात का विधि-विरोधी न्याय गलत है। लेकिन वे दस सेनापति जीवन-भर सुकरात की अच्छाई को नहीं भूले। एक बार ४०४ ई० पू० में सुकरात को परिषद् की ओर से कुछ गिरफ्तारियों की आज्ञा मिली, तो उन्हें कानून-विरोधी मानकर उन्होंने वैसा करने से इन्कार कर दिया। वे जानते थे कि इसका परिणाम मृत्यु से भी भयंकर हो सकता है। परन्तु जो बात गलत थी, उसे ठीक मान लेने के लिए उन्हें कैसे विवश किया जा सकता था ?

और उन्हीं सुकरात को जब स्वयं दण्डित किया गया, तो उन्होने औरों के विरोध करने पर भी दण्ड को स्वीकार करते हुए कहा, "विधि-विधान जो ठीक समझता है, सुकरात उसके आगे सिर झुकाने को तैयार है।" यह सुकरात के चरित्र का दूसरा पक्ष था।

उस समय सुकरात के एक मित्र ने उसे दण्ड का लिखित प्रत्युत्तर देने को कहा, तो सुकरात ने स्वीकार नहीं किया। उससे पहले उसी मित्र ने सुकरात को घर बनाने के लिए जमीन का टुकड़ा देना चाहा था, व्यवसाय के लिए धन देना चाहा था, किन्तु सुकरात ने वह सहायता स्वीकार नहीं की थी। बहुत-सी दूसरी उपयोगी वस्तुओं के लिए भी कहा था कि वे उन सब वस्तुओं के बिना भी निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु बाहर जो व्यक्ति इतना दृढ़ था, घर में वह अपनी बात नहीं चला पाता था। घर में पत्नी के अतिरिक्त एक पुत्र भी था। पत्नी पर उनकी अच्छाई की उल्टी ही प्रतिक्रिया हुआ करती। एक सौत पहले संसार छोड़ चुकी थी, इसलिए वह उन्हें कोसती कि तुम्हारे साथ नरक भोगने को मैं ही बची हूं। इस पर सुकरात मुस्करा देते और अत्यन्त सहज भाव से समझाते, "तुम्हें तो केवल जीवित रहने के लिए खाना चाहिए, लेकिन मुझे तो हर चीज की ज़रूरत है। समाज की भी और उससे मिलने वाले आदर-सत्कार की भी।"

एक बार उनकी पत्नी ने एक धनाढ्य परिवार को घर पर खाने

के लिए निमंत्रित किया और सुकरात से अच्छे भोजन की व्यवस्था के लिए धन माँगा। सुकरात ने उत्तर दिया, "कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अच्छे भोजन से तृप्त नहीं होता। अच्छा व्यवहार ही सबसे बड़ी तृप्ति है! और यदि तुम्हारे अतिथि निकृष्ट कोटि के हैं, तो उनकी तृप्ति-अतृप्ति से हमें वास्ता ही क्या ?" इस तरह वे गृहस्थी में भी अपने ज्ञान से ही काम चलाना चाहते। पत्नी प्रायः उनकी बातों को अनसुनी करती पर जब उसकी अपनी बात सुकरात की ओर से अनसुनी कर दी जाती तो वह धीरज खो देती। लोग कहते हैं कि वह स्त्री बहुत झगड़ालू थी और प्रायः सुकरात पर बरस पड़ती थी। एक बार गुस्से में उसने सुकरात के सिर पर पानी की बाल्टी उँडेल दी, तो सुकरात शान्तिपूर्वक बोले, "मैं जानता था गरजने के बाद अब तुम बरसोगी भी। तुम्हारे बरसने का भी मुझे अभ्यास हो गया है।" उसी समय सुकरात के जाने-माने मित्र ने प्रवेश किया और सुकरात की बात का विरोध करते हुए कहा कि सुकरात को अपनी पत्नी के साथ कड़ाई बरतनी चाहिए। किन्तु सुकरात ने उत्तर दिया कि पत्नी के विद्रोही स्वभाव से उन्हें उल्टे लाभ होता है। "अड़ियल घोड़ों से जूझने का अभ्यास होने से ही व्यक्ति सामान्य घोड़ों पर सहज काबू पा सकता है। इसके झगड़ालूपन को सहकर मैं दूसरे लोगों से आसानी से निबट लेता हूँ। मेरे लिए इसकी चीख-पुकार सिर्फ चर्खे की घों-घों, चक्की की खरड़-खरड़ या मुर्गे की बाँग की तरह है। मैं इस सबका आदि हो गया हूँ। एक व्यक्ति के विवाहित या अविवाहित होने में अब मुझे कोई अन्तर ही नहीं जान पड़ता।"

परन्तु अन्तर सुकरात को जान पड़ा था। जब सुकरात को विष दिया जाने वाला था और उससे पहले पत्नी बच्चों को साथ लेकर रोती हुई सामने आयी थी, तो उन्होंने उधर से मुँह फेरकर कहा था, "इसे वापस घर पहुँचा दो।" अन्दर का कोई बहुत ही कोमल तार था जो उस समय झनझना गया था।

यही थे सुकरात। अपने युग के विज्ञ पुरुष। तत्त्व-ज्ञाता। विचारक। वे मृत्यु से नहीं डरते थे। आत्मा के अनन्त काल तक अमर रहने में

विश्वास रखते थे। गुण-ग्राहकता को ही एकमात्र ठोस सौदा समझते थे। उनकी आचार-विचार संहिता ईसा की ऊँचाइयों को छूती थी। परन्तु··· वह अवसर ही ऐसा था।

काफी रहस्यमय व्यक्तित्व था उनका। जो लोग ढोंग रचाकर अपने को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न करते, वे उनके मुँह पर उन्हें मूर्ख कहकर प्रसन्न हो लेते। एक बार एनिटस को, जो अपने को बहुत मानता था, सुकरात ने बिना आडंबर के मूर्ख सिद्ध कर दिया। इस पर एनिटस ने लोगों को सुकरात के विरुद्ध भड़काना शुरू किया। एथेन्स के बहुत-से लोग उत्तेजित होकर सुकरात को 'मूर्ख-मूर्ख' कहकर आवाजें कसने लगे। बात बढ़ती गयी। अन्ततः एनिटस और उसके साथी मैलेटस ने सुकरात को धर्म-विरोधी घोषित कर दिया। सुकरात के प्रशंसक नौजवान भी तब भड़क उठे। उन्होंने इस आक्षेप का विरोध किया। मैलेटस ने अब सुकरात पर नौजवानों को पथ-भ्रष्ट करने तथा उन्हें नास्तिक बनाने का आरोप लगाया। सुकरात के अनुयायियों ने इसे निराधार प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। अन्त में मैलेटस ने अधिकारियों पर जोर डाला कि सारा एथेन्स चाहता है कि सुकरात को दण्डित किया जाय। राज्य को चाहिए कि सुकरात को प्राण-दंड दे।

सुकरात के एक अन्य मित्र ने उक्त अभियोग का उत्तर लिखा और सुकरात को दिखलाया। सुकरात ने मजमून की प्रशंसा की, किंतु उसे अपने उपयुक्त नहीं माना। जब सुकरात को प्राण-दण्ड की आज्ञा हुई, वे सत्तर वर्ष के थे। जीवन के पचास से अधिक वर्षों से निर्बन्ध भाव से लोगों को 'अच्छाई' के मार्ग का उपदेश देते रहे थे। बताना चाहते रहे थे कि मनुष्य साधारण भोग-विलास से ऊपर उठकर आत्मवीर बन सकता है। ३९९ई० पू० में जब प्राण-दण्ड की जगह उन्हें देश से निर्वासन की सजा सुनायी गयी, तो उन्होंने कहा, "देश से निर्वासन मृत्यु से भी बड़ा दण्ड है। निर्वासन केवल देश-द्रोही को ही दिया जाता है।" बाद में जब मृत्यु-दण्ड की जगह उन्हें तीस 'माईन्स' का जुरमाना देने को कहा गया, तो सुकरात वह देने को तैयार न हुए। सुकरात के बौद्धिक आग्रह का यह एक निराशाजनक पक्ष था। उनका शिष्य क्राइटो भी यहाँ पहुँचकर हताश हो गया। अधिकारी

सुकरात से और रुष्ट हो गए। सुकरात तब भी जेल में अपने शिष्यों तथा प्रशंसकों से घिरे उन्हें शान्ति का उपदेश दे रहे थे। उनकी पत्नी उन लोगों से कह रही थी कि यह अन्तिम भाषण है। शाम के पांच बजे राज्य की ओर से कर्मचारी हथकड़ियों-बेड़ियों से कसे सुकरात को विष पिलाने के लिए आये, तो वे मित्रों से वार्तालाप कर रहे थे। मुड़कर उन्होंने पत्नी और बच्चों को देखा और मुँह दूसरी ओर करतेहुए कहा, "इसें वापस घर पहुँचा दो।"

विष का प्याला जेलर के हाथ से लेकर वे गटागट पी गए। घुटनों के पास जहाँ बेड़ियाँ कसी थीं, वहाँ हाथ से थोड़ा मला और इधर-उधर टहलने लगे। शिष्य लोग उन्हें घेरकर अमरत्व के सम्बन्ध में उनका अंतिम भाषण सुनते रहे। धीरे-धीरे विष चढ़ने के साथ सुकरात बेसुध होने लगे। तब क्राइटो को बुलाकर उन्होंने कहा, "क्राइटो, बलि के एक मुर्गे का उधार मेरे ऊपर है। तुम क्या मेरा यह ऋण चुका दोगे?"

क्राइटो ने विश्वास दिलाया कि वह ऋण चुका देगा।

प्लेटो के इतिहास में इतना ही वर्णन है। इसके बाद का वर्णन है एथेन्सवासियों के विषय में—कि इस महान् व्यक्ति की मृत्यु के बाद उन्होंने कितना पश्चाताप किया। परन्तु वह न्यायप्रिय व्यक्ति तो सदा के लिए प्रस्थान कर चुका था—मन में कहीं यह प्रश्न लिए कि 'अच्छाई' चाहना यदि मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, तो उस स्वाभाविकता की ओर उसकी सहज प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

अशोक

स्तम्भ, स्तूप, शिलालेख—देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा का कहना है कि···। राजा के मन में बहुत व्याकुलता जाग उठी थी। बहुत-सी बातें थीं जो उसे अपनी प्रजा के मन में बैठानी थीं। बहुत कुछ था जो उसे प्रजा के लिए करना था और उसकी घोषणाएँ उस तक पहुँचानी थीं। समाज में व्याप्त कुरीतियों और अन्धविश्वासों का उसे नाश करना था। लोगों को परस्पर दया-भाव और संवेदना का संदेश देना था। एक युद्ध-क्षेत्र में उसकी विजय ने उसे इस तरह हरा दिया था कि पूरा जीवन ही उसके लिए हिंसा, अनाचार और कुरीतियों से लड़ने का युद्ध-क्षेत्र बन गया था। उसे वह सब-कुछ करना था जिससे आस-पास का जीवन अधिक सुन्दर और व्यवस्थित हो सके। उसने चिकित्सालय खुलवाये—मनुष्य के लिए ही नहीं, पशु-पक्षियों तक के लिए! उद्यान लगवाये, कुएँ खुदवाये। पेड़ रोपे, जड़ी-बूटियाँ उगवायीं। सड़कें बनवायीं, धर्मशालाओं की स्थापना की। पशु-वध पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिए। शिकार बंद कर दिया तथा उपयोगी पशुओं के वध का सर्वथा निषेध कर दिया। प्रजापालन के कड़े नियमों के अनुशासन में स्वयं अपने को जकड़ लिया। इस तरह प्रजा के लिए उसके ये विशेषण सार्थक हो उठे—देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा।

राजा का नाम था अशोक। मौर्य सम्राट अशोक।

अशोक के अन्दर जिस व्याकुलता ने उनसे ये सब कार्य कराये,

उसका एक अपना इतिहास था। उन्होंने एक ऐसी भयानक वास्तविकता को प्रत्यक्ष देखा था जिसने उनके मन-प्राणों को अन्दर से हिला दिया था। यह वास्तविकता थी कलिंग के युद्ध में हुआ नर-संहार तथा उसके परिणाम। पराक्रमी वे अन्त तक रहे। परन्तु वह पराक्रम संहार का नहीं सहानुभूति का था।

पहले इस पराक्रम का रूप दूसरा था। चुनौतियों से लड़ने की उद्दाम कामना उनके अंदर सदा से रही थी। राज्य-भार सँभालने से लेकर चालीस वर्ष तक यह कामना किसी-न-किसी रूप में उनमे बनी ही रही। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने मौर्य वंश को जो कीर्ति दी थी, उसे निखार-कर उन्होंने एक नये ही शिखर पर पहुँचा दिया।

२२४ ई० पू० उत्तर में तक्षशिला तथा मध्य-भारत में उज्जैन तक एकछत्र राज्य करने वाले सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस की यूनानी सेनाओं को वापस खदेड़ दिया था। चाणक्य-नीति के आश्रय से उन्होंने अपने राज्य को एक नये एकता-सूत्र में बाँध लिया था। राज्य की सीमाओं की रक्षा के लिए छः लाख वीर सैनिक नियुक्त थे। इससे प्रजा में सुरक्षा की भावना आ गयी थी। अपने चौबीस वर्षीय राज्यकाल में उन्होंने लोगों को अन्य विषयों के अतिरिक्त राजनीति की भी शिक्षा दी, उन्हें शस्त्रास्त्र विद्या में भी निपुण बनाया। उनके पुत्र बिन्दुसार ने अपने पच्चीस-वर्षीय राज्यकाल में राज्य-विस्तार को प्रमुखता दी। बिन्दुसार के बाद आये अशोक। यह स्वाभाविक ही था कि पिता की तरह वे भी राज्य-विस्तार की भावना से प्रेरित होते। इस भावना का ही परिणाम था कलिंग का युद्ध।

परंतु मार-काट का इतिहास कलिंग से पहले का था। कहा जाता है कि अशोक ने अपने भाई-सुमन तथा अन्य भाइयों को सदा के लिए अपने मार्ग से हटाकर राज्य-भार सँभाला था। इस तथ्य का कोई प्रमाण नहीं मिलता, तो भी इतिहासकारों की धारणा है कि अशोक के बड़े भाई सुमन बुद्धि और पराक्रम में अशोक की समानता नहीं कर सकते थे। सुमन की माँ रानी धर्मा राजकन्या थीं जबकि अशोक की माँ सुभद्रांगी एक दरिद्र ब्राह्मण की बेटी थी। बेटे के पैदा होने से ही उसके मन का शोक दूर हुआ

था, इसलिए उन्होंने उसका नाम अशोक रख दिया था । प्रारंभ में सम्राट् बिन्दुसार अशोक को उतना नहीं चाहते थे । वे बड़े बेटे सुमन को ही राज-गद्दी देने के पक्ष में थे। परन्तु समय के साथ-साथ अशोक की कुशाग्रता अधिक खुलकर सामने आती गई थी । अन्ततः जब सम्राट् बिन्दुसार के सौ पुत्रों का बुद्धि-परीक्षणं हुआ, तो बड़ा लड़का सुमन अशोक के सामने टिक नहीं सका। बिन्दुसार ने अपने प्रधान-मंत्री से प्रतिभा-परीक्षण का परिणाम पूछा तो पता चला कि उनका जो पुत्र सबसे अधिक वीर, सबसे अधिक राजनीति-निष्णात तथा सबसे अधिक विवेकशाली है, वह है अशोक। बिन्दु-सार ने मंत्रीमंडल के परामर्श से अशोक को युवराज घोषित कर दिया ।

कुछ समय बाद तक्षशिला से विद्रोह के समाचार आने लगे । बिंदुसार ने विद्रोह को दबाने के लिए सुमन को भेजा । परन्तु सुमन को सफलता नहीं मिली । वह ऐसे ही तक्षशिला से लौट आया । उसके बाद अशोक को भेजा गया । अशोक ने न केवल विद्रोह को शान्त कर दिया, साथ ही तक्षशिला की प्रजा का प्रेम और विश्वास भी जीत लिया । उसके बाद अशोक को दूसरी बार तक्षशिला और फिर उज्जैन भेजा गया । वह बहुत अच्छा प्रशासक सिद्ध हुआ । उन्हीं दिनों अशोक को पिता के अस्वस्थ होने का समाचार मिला । उनके उज्जैन से पाटलिपुत्र पहुँचने के बाद सम्राट् बिन्दुसार की मृत्यु हुई ।

अपने राज्य के आरंभिक दिनों में अशोक की राजनीति उग्र थी और राज्य-विस्तार की इच्छा प्रबल । सिंहासन पर अधिकार रखने में अनेक बाधाएँ थीं, परंतु उन सबको समाप्त करने में वे सफल रहे । विरोधियों को दबाने में चार वर्ष लगे और अन्ततः अशोक का राज-तिलक हो गया, सम्राट्-पद सँभालने के साथ ही अशोक ने अपने पिता की तरह प्रतिदिन हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराना आरंभ किया । प्रजा को प्रसंन्न तथा सुखी रखने के और भी कई उपाय किये । फिर भी उनकी दृष्टि मुख्यतः इस पर रहती थी कि राज्य-व्यवस्था त्रुटिहीन हो और हर तरह से अनुशासन बना रहे । अपने राज्यकाल के आठवें वर्ष तक सब-कुछ व्यवस्थित कर लेने के बाद उनकी दृष्टि अपनी भौगोलिक सीमा से आगे देखने लगी । मन में

स्वप्न जागा कि "जो कुछ है, उसे बनाये रखना ही एक सम्राट् के लिए पर्याप्त नहीं; उसकी वास्तविक सफलता उसे प्राप्त करने में है जो नहीं है।'

कलिंग एक छोटा-सा राज्य था — गोदावरी और महानदी के बीच — बंगाल की खाड़ी के निकट। उसके तीन ओर मौर्य साम्राज्य की सीमाएँ थीं। कलिंग की भूमि बहुत उपजाऊ थी। प्रजा वीर थी। नंदवंश को उखाड़कर जब मौर्यवंश ने अपना राज्य स्थापित किया, तो कलिंग को स्वतन्त्र रहने दिया गया था। कुछ ही वर्षों में कलिंग ने खेती-बाड़ी, उद्योग तथा शिक्षा आदि में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। इस समय तक आकर कलिंग की सैनिक शक्ति भी काफ़ी दृढ़ हो चुकी थी। कलिंग-वासियों का अपने पर मान—यह मौर्यवंशी सम्राट् को अपनी अवहेलना की तरह लग रहा था। वह छोटा-सा राज्य अपने छोटेपन के बावजूद उनकी समानता का दावेदार था। यह आशंका भी थी कि वह छोटा-सा राज्य विदेशी शक्तियों से मिलकर कभी उनके लिए एक चुनौती भी बन सकता है। अशोक ने कलिंग पर अधिकार करने का निर्णय कर लिया। उस प्रदेश को तीन ओर से सेनाओं से घेर लिया गया तथा समुद्र की ओर से समुद्री यान आगे बढ़ा दिये गए। तब कलिंग की राजधानी में दूत भेजा गया कि मौर्य साम्राज्य उनके साथ मित्रता का सम्बन्ध चाहता है। उन्हें अपने शासन में लेना उसका उद्देश्य नहीं है।

कलिंग के राजा ने अपनी मन्त्रि-परिषद् तथा सेना-नायकों का मत लिया। युद्ध की विभीषिका तथा अनिष्ट की सब सम्भावनाएँ उनके सामने रखीं। परन्तु कलिंगवासियों का स्वाभिमान इस स्थिति से समझौता करने को तैयार नहीं हुआ। उन्हें मौर्य साम्राज्य द्वारा घेरा डालकर मित्रता का संदेश भेजना सर्वथा असह्य लगा। उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए युद्ध करने का निश्चय कर लिया। युद्ध छिड़ गया। मौर्य सेनाओं ने पूरी शक्ति के साथ कलिंग पर आक्रमण कर दिया। कलिंग के सैनिक कई दिनों तक उनका सामना करते रहे, परन्तु अन्ततः उनकी सीमित शक्ति चुकने लगी। कलिंगराज वीरगति पा गये। बचे हुए योद्धाओं का साहस टूट गया। उनके लगभग एक लाख सैनिक जान दे चुके थे, उससे कहीं

अधिक बन्दी बना लिये गए थे। उन्हें पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

अशोक ने जो विजय का स्वप्न देखा था, वह पूरा हो चुका था। परन्तु उस स्वप्न का दृश्य बहुत कुरूप था। चारों ओर मरे-अधमरे शरीर। दम तोड़ते लोगों की कराहें...चीलें और गिद्ध...हड्डियाँ और लहू। अशोक ने रणभूमि में आकर अपनी आँखों से विजय का दृश्य देखा। उसे लगा कि उसके स्वप्न को किसी ने चीर-फाड़ दिया है; पैरों से कुचलकर मिट्टी में गाड़ दिया है। क्या यही था उनका राज्य-विस्तार? यही थी वह उपलब्धि जिसके लिए इतनी बड़ी योजना बनायी गयी थी?

अशोक जड होकर देखते रहे। वह दृश्य आँखों में उतरता गया—बिना बाँहों के शरीर ..बिना शरीरों के बाँहें...मनुष्यों का एक खेत...बुरी तरह रौंदा गया। मनुष्य पर मनुष्य की बर्बरता और उसके बिखरे परिणाम। स्वप्न एक दुःस्वप्न में बदल गया। यह सब क्यों किया उन्होंने? कोई भी यह सब क्यों करता है? युद्ध और विध्वंस का अर्थ? उससे प्राप्ति?

अशोक का मन अपने प्रति ग्लानि से भर गया। लगा कि पूरा उत्तरदायित्व स्वयं उन्हीं का है। इसका प्रायश्चित क्या होगा? यह प्रश्न उनके मन को मथने लगा। अब क्या किया जाय? किस तरह अपने मन में स्थिरता और शान्ति लायी जाय? किस तरह यह अपराध सिर से उतरे? किस तरह यह दुःस्वप्न आँखों से दूर हो?

हृदय में निरन्तर एक पीड़ा। एक दंश। मैंने यह सब किया है तो मुझी को इसके विपरीत कुछ करना होगा। वह कुछ क्या हो? कैसे हो?

उन्होंने प्रण किया कि जीवनभर तलवार को नहीं छुएँगे। किसी भी जीव की हत्या नहीं करेंगे। कलिंग में हुई नरहत्या का प्रायश्चित उन सब कार्यों से करेंगे जिनसे सभी प्राणियों का हित हो, कल्याण हो और उसकी व्याकुलता शिलालेखों में बाहर आने लगी देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा का कहना है कि ..।

युद्ध के बाद के दो वर्ष। एकान्तवास तथा धार्मिक कार्य कलापों में बिताए गए इन दो वर्षों में अशोक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन करते रहे; उनका अनुसरण करने का भरसक प्रयत्न करते रहे। अहिंसा के

मार्ग से सत्य की उपलब्धि। जीव-दया, जीव-करुणा। अशोक ने निर्णय कर लिया कि वे बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले लेंगे। बौद्ध आचार्य उपगुप्त उन दिनों मथुरा में धर्म-प्रचार कर रहे थे। अशोक ने उनके पास जाकर दीक्षा लेने की अनुमति चाही, तो उपगुप्त स्वयं उनके पास चले आये। अशोक दीक्षित हो गये।

धर्म पर आश्रित राज्य। धर्म पर आश्रित समाज। अशोक का वास्तविक साम्राज्य-विस्तार अब आरम्भ हुआ। यह साम्राज्य था उनकी आस्था का, उनके धार्मिक विश्वास का। उत्तर में हिन्दूकुश पर्वत से दक्षिण में मैसूर तक, तथा पश्चिम में अरब सागर से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक अशोक की यशोगाथा फैलने लगी। अपने जीवनकाल में ही उन्होंने बौद्ध-धर्म का संदेश समुद्र-पार के कई देशों तक पहुँचा दिया। वे स्वयं सम्राट् होते हुए भी भिक्षु थे—एक भिक्षु सम्राट्। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा का कहना है कि ··मानव का धर्म है दासों, अधीनों एवं विवशों के साथ उचित व्यवहार करना·· सेवकों व श्रमिकों पर दया-भाव रखना।

वे मानव को अन्दर से बदल देना चाहते थे। चाहते थे कि ऐसा क्रूर कार्य कभी कोई न करे जैसाकि कलिंग के युद्ध में उनके आदेश से हुआ था। इसलिए उनके शिलालेख एक पूरे जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति बन गये। देश में स्थान-स्थान पर उन्होंने बौद्ध विहार खुलवा दिये। उनमें उपदेश-कक्षाएँ खुलवा दीं। अहिंसा का प्रचार। सत्य का प्रचार। राज्य-धर्म का प्रचार। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा का कहना है कि··· विजय शस्त्रों द्वारा न प्राप्त की जाय। सद्भावना के दूत सारे देशों में भेजे जाएँ। अमात्यजन अपने उद्देश्य सूझ-बूझ के साथ दूसरे सम्प्रदायों के सामने रखें: किसी सम्प्रदाय को भला-बुरा न कहा जाय। सभी धर्मों का समान आदर हो। दान एवं सत्कार की पूजा हो। अन्धविश्वास किसी धर्म की राह का बाधक न हो।

सहिष्णुता, सद्भाव, प्रेम, दूसरों के गुणों का आदर, स्वधर्म के धार्मिक विश्वास का सम्मान —यही उनकी दृष्टि में वास्तविक धर्म था। बुद्ध के मार्ग को उन्होंने इसी रूप में [illegible]

भी इसी रूप में समझें।

धार्मिक आस्था अधिक गहरी होने के साथ उनके मन में इच्छा जागी बौद्ध तीर्थों के दर्शन की। वे लुम्बिनी गये। कपिलवस्तु गये। लुम्बिनी में एक स्तम्भ स्थापित किया। लुम्बिनी ग्राम पर से धार्मिक कर हटा दिया। उसके बाद कुशीनगर गये। गया में बोधिवृक्ष के दर्शन किये। सारनाथ गये। जिस किसी तीर्थ-स्थान पर पहुँचे, वहीं स्तम्भ, स्तूप और शिलालेख स्थापित कर दिये।

अशोक के शिलालेख उनके मानसिक निर्माण का परिचय तो देते ही हैं, साथ ही वे उस काल के सामाजिक एव सांस्कृतिक जीवन की भी पर्याप्त जानकारी देते हैं। उनके स्तूप उनके सिद्धान्तों का विवरण देने के अतिरिक्त उस समय की स्थापत्यकला के भी उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं इनमें अशोक की लाट पंचास फीट ऊंची है और बहुत भारी भी। इसमें कहीं कोई जोड़ नहीं। इसके अतिरिक्त कई स्तूप चालीस-पैंतालीस फीट ऊँचे हैं और मनों भारी। इन पर कई तरह की आकृतियाँ खुदी हैं— घोड़े, हाथी, सिंह और बैल। ये उनके राजधर्म के प्रतीक हैं। दूसरी और वे आकृतियाँ हैं जो उनके धार्मिक विश्वास को मुखरित करती हैं।

कलिंग-विजय ने मन में जो प्रश्न उठा दिये थे, वे जीवन-भर उन्हीं प्रश्नों के उत्तर अपने कार्यों से देते रहे। बौद्ध-धर्म का जितना प्रचार-प्रसार अशोक के कारण हुआ, उतना शायद अन्यथा न हो पाता। बुद्ध के अवतरण की गाथा, बुद्ध के सिद्धान्त दूर-दूर तक पहुँचाना, यह उनके जीवन के अन्तिम दिनों का उद्देश्य बन गया था। उनकी बहन आनन्दी पहले ही भिक्षुणी बन चुकी थीं। अब छोटा भाई तिष्य भिक्षु-सभा का अध्यक्ष बना। पुत्री संघमित्रा, पुत्र महेन्द्र सैकड़ों भिक्षुओं को साथ लेकर मिस्र, सीरिया, जावा तथा सुमात्रा आदि देशों में धर्म-प्रचार करने निकल पड़े। अशोक-साम्राज्य से उठी बौद्ध क्रान्ति पूरे एशिया की धार्मिक क्रान्ति बन गयी।

अन्तराल : विद्रोही आस्थाएं

जान ऑफ आर्क
कबीर
मीरा

जोन ऑफ़ आर्क

३०मई, १४३१ का दिन। फ्रांस के नगर रूआँ का चौराहा। असंख्य लोगों की भीड़ वहाँ एक दृश्य देखने के लिए जमा थी। वह दृश्य था एक युवा लड़की को जीवित जलाया जाना। लड़की स्थिर आँखों से सामने के समुदाय को देख रही थी या शायद सामने से अधिक अपने अन्दर। उसके चेहरे पर मृत्यु का आतंक नहीं था। कोई गहरी छाया भी नहीं थी। उसके लिए यह सब उतना ही सहज था जितना कि वह सारा संघर्ष जिसमें से वह तब तक गुज़र चुकी थी। उसी सहजता के साथ उसने अपने लिए क्रॉस की माँग की। एक सिपाही ने लकड़ी के दो बंधे टुकड़े उसकी ओर बढ़ा दिये। फिर जब उसका शरीर ज़लने लगा, तो पास के एक गिरजाघर से क्रॉस लाकर उसकी आँखों के सामने कर दिया गया। आग की ऊँची उठती लपटों में घिरे हुए उसने उस क्रॉस को चूम लिया। मुँह से केवल एक स्वर निकला, "जीसस!" बाद में उसकी चिता में देखा गया कि उसका हृदय नहीं जला था। उसके शरीर की राख सेन नदी में फेंक दी गयी।

लड़की का नाम था जोन ऑफ़ आर्क। उस पर कई अभियोग थे। मुख्य अभियोग था धार्मिक प्रतिष्ठान के प्रति विद्रोह का। वह प्रतिष्ठान के अनुशासन में न बंधकर दैवी शक्तियों से सीधे आदान-प्रदान की बात करती थी। कहती थी कि उसे उन शक्तियों से आदेश मिलते हैं। वह

उनकी आवाज़ें सुनती है। कभी-कभी उन्हें आँखों के सामने देखती भी है।' प्रतिष्ठान को यह सब झूठ और आडम्बर लगता था—शैतान की साधना करने वाली एक लड़की का पाखंड, या राजनीतिक चालें चलने का एक ढंग।

जोन का जन्म सन् १४१२ में एक साधारण किसान के घर में हुआ था। शिक्षा-दीक्षा न होने पर भी वह लड़की काफ़ी सूझ-बूझ रखती थी। बहुत मनोयोग से वह घर के काम तथा सिलाई-कढ़ाई करती, पिता की भेड़ें चराने जाती। उसका गांव फ्रांस के उस भाग में था जो बरगंडी-राज के प्रभाव-क्षेत्र में आता था। अतः बचपन से ही वह उस आतंक से परिचित थी जो उसके देश को घेरे हुए था। पशुओं के साथ कई बार वह काफ़ी दूर निकल जाती जहाँ युद्ध की छाया उसे बहुत पास मँडराती महसूस होती। फ्रांस पर होने वाले आक्रमणों के जो किस्से उसने घर में सुन रखे थे, वे उसके मन में वास्तविक आकार धारण करने लगते। अतीत की कथाएँ उसके लिए वर्तमान बन जातीं और वह बहुत अस्थिर महसूस करती। उसे लगता कि वह उस पूरे इतिहास में जीकर आयी है; वह सब उसी पर बीता है और आगे का इतिहास भी उसी पर बीतने जा रहा है। 'वह इतिहास क्या होगा?' वह अपने से पूछती और एकान्त मनोयोग से अपने प्रश्न का उत्तर जानना चाहती। तब उसे लगता कि सरसराते पत्तों में से गुजरती हवा को एक वाणी मिल गई है—वह वाणी उसे आने वाले दिनों के संकेत दे रही है। वह बारह वर्ष की थी जब एक दिन उसने इस बात की घोषणा भी कर दी कि कोई दैवी स्वर उसके कानों में गूंजता है जो उसे आने वाली घटनाओं का आभास देकर कुछ कार्य करने की प्रेरणा देता है। इसके साथ ही उसने यह व्रत भी ले लिया कि वह जीवन-भर विवाह नहीं करेगी; कुंवारी रहकर दैवी आदेशों के अनुसार जीवन बितायेगी। धीरे-धीरे यह विश्वास उसके मन में दृढ़ होता गया कि उसके जीवन का उद्देश्य है अपने देश की रक्षा करना और वहाँ के वास्तविक शासक को राजमुकुट दिलाना। उसके किसान पिता को ये बातें बहुत विचित्र लगतीं। वह सोचता कि शायद डराने-धमकाने से लड़की रास्ते

पर आ जाय। वह उसकी बातों का मजाक उड़ाता उस पर गुस्सा करता। कहता कि वह बाज नहीं आयेगी, तो वह उसे कुएँ में फेंक देगा। परन्तु लड़की बिना इस सबसे प्रभावित हुए चुपचाप अपने अन्तर के आदेशों के अनुसार चलते जाने की बात सोचती रहती। और ऐसे ही एक आदेश ने सोलह वर्ष की उम्र में उसे रोवेयर द वान्द्रीकू के महल में ले जा खड़ा किया। उसने रोवेयर से कहा कि उसे शीनों नगर की ओर जाने के लिए कुछ अंगरक्षक साथ चाहिएँ। रोवेयर, जो कि एक सोधा अक्खड़ सैनिक था, अचकचाकर उसे देखता रहा। यह सोलह साल की नाजुक-सी लड़की उससे विचित्र ही अनुमति चाह रही थी; अनुमति ही नहीं, सहायता भी। कह रही थी कि उसे सेंट माइकेल, सेंट कैथरीन तथा सेंट मार्गरेट से आदेश मिला है कि वह विदेशी आक्रमणकारियों से अपने देश की रक्षा करे। वह उसकी बात पर उसी तरह हँसा जैसे जोन का पिता हँसा करता था। जोन को सहायता नहीं मिली और उसे वापस अपने गाँव लौट आना पड़ा। परन्तु उसने प्रयत्न नहीं छोड़ा। कुछ और लोगों से रोवेयर को कहलाकर आखिर उसने सहायता ले ली। उसकी जिन बातों को रोवेयर ने मूर्खतापूर्ण बताया था, उनसे रोवेयर के कुछ-एक समर्थकों-अनुयायियों को विश्वास दिला लेना, उसके सार्वजनिक जीवन की पहली विजय थी। सन् १४२८ के जनवरी महीने में छः सैनिकों के साथ वह पुरुष वेष में शीनों नगर की ओर चल दी।

वहाँ फ्रांस के राजा चार्ल्स से उसकी भेंट हुई। उसने अपना प्रस्ताव सामने रखा — वह अंग्रेज सेनाओं से घिरे अरलेयाँ नगर का उद्धार करना चाहती है; इस कार्य के लिए उसे दैवी आदेश मिला है; सेना की एक टुकड़ी का संचालन उसे सौंपकर उसे वहाँ भेज दिया जाय। प्रस्ताव बहुत अटपटा होने पर भी चार्ल्स ने उसे ऐसे ही उड़ाया नहीं। उस लड़की की आँखों में कुछ ऐसा था जिससे उस पर अविश्वास नहीं होता था। जोन ने एक और तरह से भी उसे अपने दैवी साक्षात्कार का परिचय देकर उसके विश्वास को दृढ़ कर दिया। चार्ल्स को लगा कि जोन सचमुच उसके लिए दैवी सहायता लेकर आयी है। उसने घोषणा कर दी कि प्वातिए

स्थित धार्मिक समुदाय उसे अपनी परीक्षा में खरी पाये, तो उसे अरलेयाँ के बचाव का कार्य सौंप दिया जायगा।

नगर उस समय युद्ध और आतंक के मनहूस साये में जी रहा था। वहाँ के राजभवन का वैभव, अधिकारियों का दबदबा, नागरिकों का रहन-सहन, सब-कुछ एक ऐसे निम्न धरातल पर था कि किसी को उसके बचाव की आशा ही नहीं रही थी। राजसी ठाठ-बाट एक ऐसी टूट-फूट की स्थिति में था कि कोई भी सैनिक या नागरिक उसकी रक्षा कर सकने का नैतिक साहस अपनेमें अनुभव नहीं करता था। राजभवनके अन्दर और बाहर छोटे-बड़े षड्यंत्र रचे जा रहे थे। हर व्यक्ति अपनी सुरक्षा तथा लाभ की दृष्टि से किसी-न-किसी प्रपंच में उलझा था; या निराशा से अभिभूत किसी तरह वहाँ से निकल जाने और कहीं और जाकर रोटी का उपाय करने के विचार सेआक्रान्त था। हरएक के मन में डर था किपता नहीं कब अंग्रेज सैनिक नगर पर अधिकार करके उन सबको बेघर कर देंगे—उनके बचे-खुचे साधन-सम्मान को एड़ियों से रौंद देंगे। कमजोर चार्ल्स के भविष्य पर उन्हेंकोई विश्वास नहीं था। जिसकी अपनी माँ यह ताना कसती थी कि उसकी रगोंमें वीरों का-सा खून नहीं है, उससे किसी भी तरह के सच्चे नेतृत्व की आशा ही कैसे की जा सकती थी ?

और ऐसे में वहाँ आ पहुँची जोन-- चार हजार सैनिकों के साथ। तलवार और पाँच क्रॉस धारण किये। उसके आने के साथ ही जैसे एक चमत्कार हो गया। टूटे हुए शहर में सहसा एक नये उत्साह की लहर दौड़ गयी। वही लोग जो इतने पस्त हो चुके थे कि अंग्रेजों के आने के नाम से ही दहल जाते थे, सहसा पुनरुज्जीवित हो उठे। जोन के व्यक्तित्व में एक अपूर्व शक्ति थी दूसरों में विश्वास फूंक सकने की। इसके अतिरिक्त उसके दैवी सम्बन्ध की आभा उसके साथ थी। उसकी प्रेरणा से उन लोगों ने अब एक नये निश्चय के साथ युद्ध करना आरम्भ किया। तुरेल नगर पर फ्रांसीसियों का अधिकार जोन की बहुत बड़ी सैनिक विजय थी। यह माना जाता था कि अंग्रेजों के उस गढ़ में किसी भी तरह प्रवेश नहीं किया जा सकता। जोन ने वहाँ इस तरह आक्रमण पर

आक्रमण किये कि कुछ ही दिनों में असम्भव सम्भव में परिवर्तित हो गया। वह मोर्चे से सिर्फ एक बार हटी—कंधा जख्मी हो जाने से। पर पट्टी बंधवाकर वह फिर से आ डटी और अन्तिम आक्रमण के बाद उसके सैनिक तुरेल में प्रवेश कर गये। अंग्रेज कमांडर ग्लासडेल कुछ सैनिकों के साथ पुल पार करते हुए पुल के टूट जाने से नदी में गिरकर बह गया।

फ्रांसीसी सेनाओं का आत्म-विश्वास एक बिन्दु पर पहुँच गया। जब तक जोन उनके साथ थी, उन्हें कोई नहीं हरा सकता था। एक के बाद एक आक्रमण। एक के बाद एक विजय। अनेक नगरों से अंग्रेजों को खदेड़ दिया गया। जोन की उपस्थिति ही उनके लिए विजय का प्रतीक थी। अंग्रेज सैनिकों का साहस इस तरह टूट गया था कि वे कहीं भी उसका डटकर सामना नहीं कर पा रहे थे। उनके लिए जोन एक ऐसे बुरे नक्षत्र की तरह थी जिसके साये में उनके लिए कहीं भी विजय सम्भव नहीं थी।

और जोन देख रही थी कि वह जिस संकल्प को लेकर चली थी, उसे पूरा करने का अवसर आ गया है। उसे अब चार्ल्स को रांस नामक नगर में ले जाना और वहाँ परम्परागत रीति से उसका राजतिलक कराना था। एक बार राजधानी पर अधिकार होने के बाद फ्रांस की भूमि से अंग्रेजों को बिलकुल बाहर कर देना कठिन नहीं था।

वरगंडी प्रदेश से होते हुए रांस की ओर अभियान। रास्ते के कुछ मोर्चे ऐसे ही जीत लिये गए; कुछ जगह थोड़ा युद्ध हुआ। परन्तु जिस आँधी के वेग से जोन चली थी, उसी वेग से वह अपने लक्ष्य-स्थान तक पहुँच गयी। वहाँ चार्ल्स का राज्याभिषेक करते हुए उसने कहा, "ईश्वर की इच्छा पूरी हुई, नेक राजा! उसने चाहा था कि मैं अरलेयाँ को घेरे से मुक्त करके तुम्हें यहाँ अभिषेक के लिए ले जाऊँ। अब उसने दिखला दिया है कि फ्रांस के वास्तविक राजा तुम्हीं हो और यह राज्य केवल तुम्हारा है।"

फ्रांस के शत्रुओं को जीतने-जीतने में जोन ने कई लोगों को अपना

व्यक्तिगत शत्रु बना लिया था। अभिषेक के बाद भी चार्ल्स में वह शक्ति और विश्वास नहीं आ पाया जो जोन में था। इसलिए आगे का इतिहास जोन के असफल संघर्षों का इतिहास है। जोन ने पेरिस पर आक्रमण करना चाहा, तो उसे पूरी सुविधाएँ नहीं दी गयीं। वह आक्रमण सफल नहीं रहा। चार्ल्स अपनी अन्दरूनी कमजोरी के कारण समझौतेबाज़ी में लग गया था। वह जोन का आभार चुकाना चाहता था उसे पद, उपाधि और सुविधाएँ देकर। आगे युद्ध करने के साधन जुटाने से वह कतरा रहा था। जोन को कहीं से भी अंग्रेज़ों के आगे बढ़ने का समाचार मिलता, तो उसका खून खौल उठता। आखिर कंपैनिए नगर पर अंग्रेज़ों और बरगंडियनों के आक्रमण का समाचार पाकर वह वहाँ की लड़ाई लड़ने पहुँच गयी और एक मुठभेड़ में बंदी बना ली गयी। कोशाँ नामक पादरी पहले से ही उसका शत्रु था। उसके षड्यंत्र से जोन को अंग्रेज़ों के हाथों में सौंप दिया गया।

अंग्रेज़ों को जोन से बदला लेना था, लेकिन वैधानिक कार्यवाही का ढोंग पूरा करके। यूँ यह घोषणा वे पहले ही कर चुके थे कि हाथ लगने पर वे जोन को ज़िन्दा जलायेंगे। परन्तु जोन की मृत्यु उसे और यशस्वी बना दे, यह उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्हें पहले जोन के नाम को धूल में मिलाना था। यह प्रमाणित करना था कि उसका धार्मिक बाना केवल एक ढकोसला है। इसलिए रुआँ नगर में एक धार्मिक अदालत का संगठन करके उसमें जोन पर अभियोग लगाया गया कि वह एक घृणित जादूगरनी है जिसे उसकी काली विद्या के लिए सज़ा दी जानी चाहिए। इस अदालत का मुखिया बनाया गया पादरी कोशाँ।

मुकद्दमा शुरू हुआ और एक वर्ष तक चलता रहा। जोन अपनी स्थिर आस्था के साथ हर अभियोग का उत्तर देती रही। पादरी कोशाँ का एक मात्र उद्देश्य था कि किसी तरह जोन को अपराध-स्वीकृति के लिए बाध्य किया जा सके। इसके लिए उसे तरह-तरह की यन्त्रणाएँ दी जातीं। कई और यन्त्रणाओं का डर दिखलाया जाता। धर्म के नाम पर हर तरह की क्रूरता उससे बरती जाती। अधमरी-सी जोन अदालत में

पेश होती, पर उसके उत्तरों का स्वर वही रहता। जोन के साथ जो कुछ बीत रहा था, उसकी जानकारी चार्ल्स को थी। परन्तु अपने स्वार्थों से घिरे उस व्यक्ति ने जोन की सहायता के लिए कुछ भी नहीं किया। जोन के साथ जो बर्बरता का व्यवहार हो रहा था, उसके उदाहरण इतिहास में बहुत कम हैं। उन पर लगाये जाने वाले मुख्य अभियोग थे कि वह शैतान के प्रभाव में कार्य करती रही है; कि उसे सुनायी देनेवालीआवाज़ें झूठी थीं; कि वह स्त्री होकर पुरुष-वेश धारण करती रही है; और सबसे बड़ा पाप यह कि उसने गिरजे और पादरियों की शरण में न आकर सीधे ईश्वर के साथ सम्पर्क रखने की बात उठायी है।

चार्ल्स की तो बात अलग, जनता में भी कोई ऐसा नहीं था जो जोन के पक्ष में आवाज़ उठाता। जोन ने देश के लिए क्या किया था, इसे जैसे सब लोग भूल गए थे। युद्ध-भूमि में हज़ारों का नेतृत्व करने वाली वह लड़की अब बिल्कुल अकेली पड़ गयी थी। वह थी और जेल की दीवारें। उन दीवारों के बाहर अदालत का कटघरा। जेल के दरवाज़े पर काले कपड़ों से लैस सैनिक। अदालत में सफेद कपड़े पहने धर्माध्यक्ष। सब जगह लोगों की उठती उँगलियाँ। डरी हुई या दोषारोपण करती आँखें। बेहूदा फब्तियाँ, ओछे सवाल।

परन्तु जोन का धैर्य अडिग था। वह सब सुन लेती थी और सहज-भाव से उत्तर दे देती थी। उसकी आँखों में एक ऐसा भाव रहता था कि कई बार सवाल पूछने वालों की ज़बान लड़खड़ा जाती थी। वे लोग बहुत प्रयत्न करते थे कि किसी तरह जोन अन्दर से डगमगा जाय, या ताव में आकर कोई उल्टी-सीधी बात कह दे। सवाल होता कि जो आवाज़ें उसे सुनायी देती हैं, क्या उनके साथ उसे किसी तरह का आलोक भी दिखता है? उत्तर मिलता, "आलोक केवल आप पर ही नहीं बरसता।" एक बार किसी ने सवाल पूछा कि उससे बात करते समय सेंट मार्गरेट के मुंह से भाषा कौन-सी निकलती है? उसका उत्तर था, "आप जैसी बोलते हैं, उससे अच्छी फ्रांसीसी भाषा।" यह इसलिए कि पूछने वाले की भाषा का उच्चारण बहुत खराब था। वह हर समय पुरुष-वेश में ही

क्यों रहती है, यह सवाल पूछे जाने पर उसने उत्तर दिया, "जेल में आपके पहरेदारों का जैसा आचरण है, उसकी दृष्टि से क्या मर्दाना वेश सुरक्षित नहीं है ?"

परन्तु एक दिन यन्त्रणा की पराकाष्ठा में उसने पुरुष-वेश छोड़ देने आदि के स्वीकृत-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। उसे झुकाकर मानो पादरी कोशाँ अपने उद्देश्य में सफल हो गया। जोन को आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया। परन्तु अंग्रेज़ नेता अर्ल ऑफ़ वार्विक को यह दण्ड पर्याप्त नहीं लगा। इस पर कोशाँ ने एक और चाल चली। उसने जोन से वचन ले लिया था कि वह अब पुरुष-वेश नहीं पहनेंगी, परन्तु उसे कोई दूसरी पोशाक पहनने को नहीं दी। इस तरह यह घोषणा करके कि उसकी शैतानियत लौट आयी है, उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया।

पच्चीस वर्ष यह विवाद चलता रहा कि जोन एक सन्तिनी थी या शैतान की परकाला। पच्चीस वर्ष बाद चार्ल्स सप्तम के आदेश पर उसे फिर से उसकी प्रतिष्ठा दी गयी। उस पर लगाये गये अभियोग मिथ्या और निराधार माने गये। मृत्यु-दण्ड का फ़ैसला ग़लत करार दिया गया। परन्तु जोन अब अपनी पुनः-प्रतिष्ठा की साक्षी कैसे बन सकती थी। पाँच सौ साल बाद पन्द्रहवें पोप बेनेडिक्ट ने उसकी प्रतिष्ठा सेंट जोन के रूप में करके उसके व्यक्तित्व को अतिमानवीय धरातल पर पहुँचा दिया।

कबीर

एक बालक। नाम कबीर। माथे पर तिलक। गले में जनेऊ। विभोर होकर राम-नाम का जाप करता।

मौलवी लोग उसे देखते, तो कहते कि वह काफ़िर है। उसका यह सब आचरण इस्लाम के साथ द्रोह है। वह उत्तर देता, "काफ़िर वह है जो हिंसा करता है, दूसरों को दबाता है, शराब पीता है या किसी का माल हड़प लेता है। मैं काफ़िर नहीं हूँ।"

पंडित लोग कहते कि वह वैष्णव नहीं है, इसलिए तिलक लगाना, जनेऊ पहनना तथा राम, नारायण, गोविंद, हरि, विष्णु का जाप करना उसके लिए वर्जित है। वह उत्तर देता, "विष्णु का निवास मेरी जिह्वा में है, नारायण का मेरी आँखों में तथा गोविंद का मेरे हृदय में। हरि के साथ मेरी समाधि है।"

वह बालक युवक हुआ, बूढ़ा हुआ और शरीर परित्याग कर गया, फिर भी उसे लेकर यह विवाद शान्त नहीं हुआ। उसके शव को लेकर भी उसके हिन्दू और मुस्लिम शिष्यों में यह झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि उसका अन्तिम संस्कार किस रीति से किया जाय। हिन्दू उसका दाह-कर्म करना चाहते थे, मुसलमान उसे दफनाना चाहते थे, परन्तु किंवदन्ती यह है कि शव से चादर हटाने पर किसी को वहाँ शव मिला ही नहीं। मिले कुछ कमल के फूल जिनमें से आधे जला दिये गये, आधे दफना दिये

गये ।

यूँ इस विवादास्पद स्थिति का सूत्रपात उसके जन्म के साथ ही हो गया था ।

ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी का अंत । एक ओर राजनीतिक उथल-पुथल, दूसरी ओर बहुत बड़ा भक्ति-आंदोलन । उन्हीं दिनों एक राम-भक्त ब्राह्मण के घर में इनका जन्म हुआ, परंतु किन्ही कारणों से उन्हें जन्म के साथ ही लहरतारा ताल के किनारे छोड़ दिया गया ।

वहाँ उस रोते बच्चे पर नज़र पड़ी नीरू नामक जुलाहे की । वह अपनी नव-विवाहिता पत्नी को ससुराल से साथ लेकर आ रहा था । ताल के किनारे से उसने उस बालक को उठा लिया; कहा कि उसे अपने घर ले चलना चाहिए। उसकी पत्नी तुरन्त सहमत नहीं हुई । उसे डर था कि बच्चे को साथ घर ले जाने पर लोग उन पर न जाने क्या-क्या बातें बनाएँ। परंतु नीरू का मन नहीं माना कि बच्चे को वहीं छोड़ दिया जाय । उसने हठ के साथ पत्नी को समझाया । उसके बाद उस बच्चे का पालन-पोषण उन्हीं के घर में हुआ । उसका नाम उन्होंने रखा —कबीर ।

कबीर के बचपन में ही उनके स्वभाव की यह असंगति सामने आने लगी । एक ओर यह वातावरण तो था ही जिसमें वे बड़े हो रहे थे, दूसरी ओर एक और वातावरण उनके मन को खींचता था । जहाँ कहीं सत्संग या हरि-कीर्तन चल रहा होता, वे वहाँ पहुँचकर उसमें सम्मिलित हो जाते और वहाँ से माथे पर तिलक लगाये घर लौटते । घर के लोग इस पर डाँट-फटकार करते, उन्हें ऐसा करने से रोकते । मगर कबीर का मन बार-बार उसे उसी वातावरण की ओर खींच ले जाता । वे बहुत बार घर में रहते हुए भी उसी धुन में खो जाते । उनका यह अस्वाभाविक आचरण उन्हें दोनों ओर से अलगाने लगा । घर के लोग समझते कि उनसे उनका अपनत्व नहीं है । संत समाज उन्हें मुसलमान मानकर अपने से परे रखना चाहता । परंतु कबीर की लगन में कोई अंतर नहीं आया । बडे होने के साथ-साथ उनके मन का भाव और परिपक्व होता गया । यहाँ तक कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे स्वामी रामानन्द से गुरु-दीक्षा लेंगे ।

परन्तु एक मुस्लिम परिवार के सदस्य माने-जाने के कारण स्वामीजी तक पहुँचना उनके लिए सम्भव नहीं था। बहुत सोचकर उन्होंने इसका एक उपाय ढूंढ़ निकाला । स्वामीजी पहर रात रहते मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने आया करते थे। उनका मार्ग और समय निश्चित था। कबीर एक दिन पहले से ही जाकर घाट की सीढ़ियों पर लेट गए। सीढ़ियाँ उतरते हुए स्वामीजी का पाँव उन पर पड़ गया जिससे वे 'राम-राम' बोल उठे। कबीर ने उसी समय से इन शब्दों को अपना गुरु-मन्त्र मान लिया; घर में जाकर इस बात की घोषणा भी कर दी कि उन्होंने स्वामी रामानन्द से गुरु-दीक्षा ले ली है।

नीरू और उसकी पत्नी नीमा इससे बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने स्वामीजी के पास इस बात की शिकायत पहुँचायी कि उन्होंने एक मुसलमान को अपना शिष्य कैसे बना लिया है। स्वामीजी को आश्चर्य हुआ कि उन्होंने कबीर को कब अपना शिष्य बनाया है। उन्होंने कबीर को बुलाकर यह सवाल पूछा, तो कबीर मुस्करा दिए, बोले, "साधारणतया गुरु शिष्य के कान में मन्त्र देते हैं, परन्तु आपने तो मेरे सिर पर पाँव रखकर मुझे राम-नाम का मन्त्र दिया है।" इससे स्वामीजी को मणिकर्णिका घाट वाली घटना स्मरण हो आयी और उन्होंने प्रसन्न होकर कबीर को अपना शिष्य स्वीकार कर लिया।

कबीर तीस वर्ष के थे जब लोई नाम की युवती से उनका परिचय हुआ। इस परिचय की घटना इस प्रकार बतलायी जाती है कि एक दिन कबीर घूमते हुए गंगा के किनारे एक वनखंडी वैरागी की कुटिया में पहुँचे। वहाँ वैरागी के स्थान पर वह युवती उनका स्वागत करने बाहर आयी। कुछ समय बाद और भी साधु-सन्त वहाँ आ पहुँचे। युवती अभ्यागतों का सत्कार करने के लिए एक पात्र में दूध ले आयी। दूध के सात भाग किये गए। पाँच भाग उन साधुओं के लिए, एक भाग कबीर के लिए तथा एक भाग उस युवती के लिए। अन्य सबने तो अपने-अपने हिस्से का दूध पी लिया, परन्तु कबीर ने अपने हिस्से का दुध अलग रख दिया। जब यह पूछा गया कि उन्होंने दूध क्यों नहीं पिया, तो उन्होंने उत्तर दिया, "गंगा पार से

एक ओर साधु आ रहे हैं। यह दूध मैंने उन्हीं के लिए रख दिया है।" उनकी इस बात से वह युवती इतनी प्रभावित हुई कि उनके साथ रहने चली आयी। उसने अपने सम्बन्ध में कबीर को बताया कि वह वहाँ अकेली ही रहती थी। एक बैरागी ने उसे लोई में लिपटे हुए गंगा में पाया था और निकालकर उसका पालन-पोषण किया था। लोई में लिपटी रहने के कारण उसका नाम भी लोई रख दिया गया था। कबीर ने उसे अपनी शिष्या बना लिया और बाद में उससे विवाह कर लिया। लोई से इनके एक पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्र का नाम रखा गया कमाल, पुत्री का कमाली।

तब तक कबीर की ख्याति एक कवि, भक्त, दार्शनिक तथा समाज-चेता व्यक्ति के रूप में फैलने लगी थी। यह देखकर कि साम्प्रदायिक कट्टरता किस तरह के विषैले बीज बो रही है, कबीर का मन बहुत अस्थिर हो उठता था। उनके लिए धर्म का अर्थ साम्प्रदायिकता से कहीं बड़ा था और वे खुलकर अपनी इस धारणा का प्रचार करना चाहते थे। इस तरह पंडित और मुल्ला दोनों उनसे द्वेष रखते थे और वे दोनों का ही विरोध करते थे। पंडितों की कट्टरता को लेकर वे कहते:

माला फेरत जग फिरा, फिरा न मन का फेर।
कर का मन का डार के मन का मनका फेर॥

दूसरी ओर मुल्लाओं को वे इस तरह आड़े हाथों लेते।

दिन भर रोजा रहत है, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसी खुशी खुदाय॥

लोई इनकी पत्नी थी, शिष्या थी, इनके विचारों के लिए जीती थी, फिर भी उसे किसी तरह घर भी चलाना होता था। आजीविका इनकी जुलाहे के काम से ही चलती थी। पति-पत्नी मिलकर कपड़ा बुनते और उससे जो थोड़ी-बहुत आय होती, उसीसे दो समय की रोटी भी चलती और आने वाले साधु-संतों का स्वागत-सत्कार भी होता। परन्तु साधु-सन्तों में बैठकर तो कबीर अपने धंधे की बात बिल्कुल भूल ही जाते। उन्हें खिलाने-पिलाने में इतना तक न सोचते कि घर के लोगों के

लिए अन्न बचेगा या नहीं। लोई सब-कुछ किसी तरह निभाती, पर कई बार स्थिति उसकी सहन-शक्ति से बाहर हो जाती। तब कबीर उसके उलाहने सुनते जिनका उत्तर देते वे अपनी काव्य-पंक्तियों में। कितनी ही रचनाओं में लोई को सम्बोधित करते हुए उन्होंने अपनी बात कही है। घर का अन्न ही नहीं, बर्तन तक साधुओं को दे डालना, मेहनत से एक थान बुनने के बाद उसे बेचने की जगह किसी साधु की आवश्यकता पूरी करने के लिए दे डालना —ये उनके जीवन की सामान्य घटनाएँ थीं। परन्तु बात यहीं तक नहीं थी। वे इससे भी कहीं आगे तक जा सकते थे।

कहा जाता है कि एक बार बीस-पच्चीस फकीर इनके यहाँ आ गए। उन सबके लिए भोजन चाहिए था, पर घर में न अनाज था, न एक पैसा। कबीर चिन्ता में पड़कर सोचने लगे। लोई उन्हें बता चुकी थी कि एक साहूकार का लड़का है जो उसके रूप पर मुग्ध है और उसे अपने यहाँ आने को कहता है। कबीर ने लोई से कहा कि और कोई उपाय नहीं है, इसलिए वह उससे मिलने का वचन देकर उससे रुपया ले आये। लोई ने उनकी आंखों में देखा और चुपचाप चली गयी। साधुओं का भोजन ठीक से हो गया और उन्हें विदा कर दिया गया। जब रात उतरी, तो वर्षा होने लगी। लोई को उसी समय साहूकार के बेटे के यहाँ जाना था। कबीर स्वयं उसे कंबल ओढ़ाकर कन्धे पर बिठाए वहाँ पहुँचाने चले गये। साहूकार का बेटा लोई को देखकर प्रसन्न तो हुआ, पर उसे आश्चर्य भी हुआ कि न तो उसका शरीर भीगा है और न ही उसके पैर कीचड़ से सने हैं। पूछने पर लोई ने बतलाया कि कबीर स्वयं उसे लेकर आये हैं। इस पर साहूकार के बेटे को अपने से इतनी ग्लानि हुई कि उसने लोई और कबीर दोनों से क्षमा माँगी और उस दिन से कबीर की शिष्यता स्वीकार कर ली।

कबीर की चर्चा अब दूर-दूर तक होने लगी थी। वे जो कुछ सोचते थे, वही सीधी-सादी भाषा में कहते थे। उनकी कविता उनके लिए 'साहित्य साधना' न होकर जीवन की साधना थी। इसलिए उनके अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। जो इनके विचारों से सहमत थे, वे

इनकी पूजा करते थे और जो इनसे चिढ़ते थे, वे इन्हें गाली देते थे। गाली देने वाले अधिकांश काशी में थे और समर्थक काशी से बाहर। कबीर कई बार दूर-दूर तक की यात्रा कर आए। उत्तर में मथुरा, दक्षिण में राजस्थान और गुजरात तथा पूर्व में जगन्नाथपुरी तक। इसके अतिरिक्त मानिकपुर, ऊँजी और झूँसी का भी भ्रमण कर लिया। जगह-जगह घूमकर सीधी-सादी ग्रामीण भाषा में लोगों को अपने विचारों का परिचय देते रहे। जीवन में जो मस्ती और अक्खड़पन था, वही मस्ती और अक्खड़पन इनकी कविता में भी था। परन्तु अन्दर में एक महान् कवि की वह कोमलता भी थी जो कई बार ऐसे-ऐसे शब्दों में साकार हो उठती थी :

नैनन की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाय॥

परन्तु कोमल भावों की व्यंजना इनका उद्देश्य नहीं था। उद्देश्य था सामाजिक कुरीतियों और साम्प्रदायिक कट्टरपंथी पर कसकर चोट करना। जिन पर चोट होती थी, वे तिलमिलाते थे, इन्हें कोसते थे, पर कर कुछ भी नहीं पाते थे।

वह सिकन्दर लोदी का शासन-काल था। एक बार जब सिकन्दर लोदी काशी आया, तो पण्डितों और मुल्लाओं दोनों ने उससे कबीर की शिकायत की। दोनों ने ही उन्हें अपने-अपने धर्म का विरोधी बतलाया। इस पर सिकन्दर लोदी ने कबीर को बुलवा भेजा। कबीर समय पर उसके पास नहीं पहुँचे। सिकन्दर लोदी ने उनसे देर से आने का क़ारण पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे एक विचित्र घटना देख रहे थे, इसलिए आने में देर हो गयी। घटना उन्होंने बतलायी कि सूई की नोंक के बराबर तंग रास्ता था जिसमें से होकर ऊँटों की एक लम्बी पंक्ति गुज़र रही थी। सिकन्दर लोदी ने इसे उनकी धृष्टता समझा और उसे क्रोध हो आया। उसने पूछा कि इस ऊल-जलूल बात का क्या अर्थ है—ऊँटों की पंक्ति सूई की नोक बराबर रास्ते से कैसे गुज़र सकती है? कबीर ने कहा कि इसमें आश्चर्य की क्या बात है? आँख की पुतली सुई की नोक से भी छोटी

होती है, पर पृथ्वी और आकाश पूरे उसमें समा जाते हैं। उनके इस उत्तर से सुलतान का क्रोध धुल गया और उसने इन्हें कोई दण्ड नहीं दिया। परन्तु शेखों और ब्राह्मणों के फिर शिकायत करने पर वे दूसरी बार बुलाये गये। इस बार सुलतान ने उन्हें समझाया कि उन्हें हिन्दुओं और मुसलमानों की निंदा करना छोड़कर दीन के अनुसार पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिए, वरना उन्हें दोज़ख़ में जाना पड़ेगा। कबीर ने उत्तर दिया कि दोज़ख़ में वे नहीं जायेंगे, जायेंगे कट्टरपंथी शेख़ और ब्राह्मण। इस पर उन्हें तरह-तरह के दण्ड दिये गए, परन्तु उनका कुछ बिगाड़ा नहीं जा सका। अन्त में विरोधियों ने सुलतान से कहकर काशी से निकलवा दिया।

अपने जीवन के अन्तिम दिन उन्हें मगहर में बिताने पड़े। काशी छोड़ने से हृदय को बहुत-कुछ क्लेश हुआ, क्योंकि इनके जीवन का सारा सुनहला समय काशी में ही व्यतीत हुआ था। वहीं इन्हें गुरु मिले थे। वहीं इनका परिवार और संत-मंडली थी। ऐसे में काशी छूट जाने से इनका दुखी होना स्वाभाविक ही था। उन दिनों लोगों का विश्वास था कि काशी में मरने से मोक्ष मिलता है और मगहर में मरने से गधे की जून प्राप्त होती है। परन्तु कबीर की दृष्टि से यह सब पाखण्ड था। काशी से बाहर रहकर दुःखी होते हुए भी वे इस बात पर दृढ़ रहे कि स्वर्ग-प्राप्ति या मोक्ष के साथ किसी नगर-विशेष का संबंध नहीं है। व्यक्ति काशी में मरे या मगहर में, यदि उसकी साधना सच्ची है, तो वह अवश्य मोक्ष का अधिकारी होगा।

किसी अकेले कवि की वाणी उस तरह जन-साधारण की अपनी वाणी नहीं बन सकी जिस तरह कबीर की। उनके निर्भीक व्यक्तित्व की छाप जिस तरह उनके विचारों में मिलती है, उसी तरह उनकी कविता में भी। भावों की तरह वे शब्दों और छंदों को भी अपने मौलिक व्यक्तित्व से नये-नये रूपों में ढालते रहे। बहुत-से पवित्रतावादी इस पर भी आपत्ति करते थे। कहते थे कि कबीर को भाषा और छंदों का ठीक ज्ञान नहीं है। कबीर के लिए यह नुक्ताचीनी कोई महत्व नहीं रखती थी। वे [illegible]

से ही मतलब रखते थे कि उन्हें क्या कहना है और किस रूप में कहना है। उनका स्वर बहुत मीठा था और वे अपने पद गाते हुए यहाँ से वहाँ घूमा करते थे। इसकी कोई चिंता ही नहीं थी कि उनकी वाणी उन्हें कवि-रूप में प्रतिष्ठित करेगी या नहीं। पढ़ाई-लिखाई तो कभी हुई ही नहीं थी। जो कुछ था, अपने अन्दर का उद्‌गार था. अपनी प्रतिभा का आवेग। उस आवेग में बहते हुए रचना अपने-आप होती जाती थी।

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूंद पड़े घुल जाना है।

और आज उनकी मृत्यु के साढ़े चार सौ वर्ष बाद भी उनके विद्रोह, विराग और भक्ति के स्वर सब जगह जन-साधारण के मुँह से सुने जा सकते हैं।

कहत कबीर सुनो भाई साधो!...

मीरा

जिस आस्था और धैर्य के साथ जोन ऑफ़ आर्क ने अपने को आग की लपटों के हवाले कर दिया था, उसी भावना से एक भारतीय नारी ने विष का प्याला होंठों से लगा लिया था। उसका नाम था मीरा।

मीरा के सम्बन्ध में भी उसी तरह लोगों की परस्पर-विरोधी धारणाएँ थीं। एक धारणा थी कि मीरा उच्छृङ्खल है, पागल है। उसने लोकलाज एवं कुल की मर्यादा का उल्लंघन किया है। उसने पतिव्रत धर्म को तोड़ा है। और दूसरी धारणा थी कि मीरा सन्तिनी है। अपने चरम भक्ति-भाव के कारण वह साधारण मानवीय धरातल से बहुत ऊँची है। उसका जीवन में एक ही लक्ष्य और एक ही ध्येय है :

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।

अन्य किसी भारतीय स्त्री ने अपने जीवन में उतना अपवाद नहीं सहा जितना मीरा ने, और किसी ने शायद उतना बड़ा साहस भी नहीं किया। घरबार छोड़कर, समाज के बन्धनों की अवहेलना करके उसने वह मार्ग चुन लिया जिस पर चलकर वह अपनी आस्था के अनुसार जी सकती थी। यह चुनाव आसान नहीं था। अपने मन का संघर्ष एक पत्र लिख-कर उसने गोस्वामी तुलसीदास के सामने रखा, तो उन्होंने यह उत्तर भेजकर उसे साहस बँधवाया था :

जाके प्रिय न राम बैदेही,
तजिये सो नर कोटि बैरि सम जद्यपि परम सनेही ।

यूँ अन्दर का चुनाव मीरा के शैशवकाल में ही हो गया था । राठौड़-वंश में जन्म हुआ था। जोधपुर राज्य के संस्थापक जोधाजी के पुत्र दूदाजी की ये पौत्री थीं और रत्नसिंह की इकलौती पुत्री। वे बहुत छोटी थीं जब राव दूदाजी के घर पर एक साधु आया। उसके पास कृष्ण की एक सुन्दर प्रतिमा थी । ये उस प्रतिमा की सुन्दरता पर इतनी मुग्ध हुई कि उससे आँखें हटाना इनके लिए असम्भव हो गया। साधु जाने लगा तो मीरा मचल उठीं; कहा, वह मूर्ति वे अपने पास रखेंगी, समझाया गया कि उसके स्थान पर दूसरी मूर्ति उन्हें ला दी जायेगी, परन्तु मीरा नहीं मानीं । कहा कि उन्हें बस यही मूर्ति चाहिए, दूसरी नहीं। हारकर साधु को वह मूर्ति मीरा के पास छोड़ जाना स्वीकार करना पड़ा । मीरा को जैसे संसार की सबसे दुर्लभ वस्तु मिल गयी। हर समय उस मूर्ति से खेलना, उसे सजाना। दादा जिस तरह अपने आराध्य की पूजा किया करते थे, उसी तरह उस मूर्ति की पूजा-अर्चना करना । उसे भोग लगाना, हिंडोले में झुलाना और रात को उसे सुलाने के लिए कोई भी पंक्ति गुनगुनाते रहना ।

एक दिन मीरा ने देखा, राजभवन के सामने से एक बारात निकल रही है । उत्सुकतावश उन्होंने माँ से पूछ लिया, "क्या मेरे लिए भी एक दिन इसी तरह बारात आयेगी ?"

माँ हँस दीं; बोलीं, "हाँ, आयेगी ।"

"दूल्हा कौन होगा ?"

माँ ने उसके हाथ की मूर्ति की ओर इशारा कर दिया—"यह होगा तेरा दूल्हा ।"

और यह बात मीरा के मन में इस तरह बैठ गयी कि पूरा जीवन ही उसने इस सत्य को सार्थक करने में लगा दिया। माँ की मृत्यु इनके बचपन में ही हो गयी जिससे इनका अधिक समय पिता के सम्पर्क में बीतने लगा । राव दूदाजी परम वैष्णव थे । वे मीरा को वैष्णव भक्ति का उपदेश देते, सत्संगों में उन्हें अपने साथ रखते, बाहर से आने वाले भक्तों से

मिलाते तथा धार्मिक कथाएँ सुनवाते। इस तरह मीरा के मन पर कृष्ण-भक्ति की छाप बहुत गहरी होती गयी। बाल्यकाल का आग्रह एक विश्वास का रूप लेने लगा।

सन् १५१५ में राव दूदाजी की मृत्यु हो गयी। उनके बड़े पुत्र वीरमदेव सिंहासन पर बैठे। उन्होंने अठारह वर्ष की उम्र में मीरा का विवाह चित्तौड़ के महाराणा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज के साथ कर दिया। मीरा उनके सामने हठ नहीं कर सकीं, परन्तु मन में एक बहुत बड़ी दुविधा लिये वे पति के घर में आयीं। उनका वास्तविक पति कौन था? वह, जिसका वरण उन्होंने बचपन में ही कर लिया था, या वह जिससे अब उनका विवाह हुआ था?

मीरा के लिए यह उनके संघर्षमय जीवन की शुरुवात थी। विवाहित जीवन का बन्धन स्वीकार करके भी वे उसके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर पा रही थीं। हर समय एक ही रंग, एक ही धुन। गिरधर गोपाल और उनकी आराधना। ससुराल के लोगों को आश्चर्य होता। यह कैसी बहू घर में आयी है जो घर-गिरस्ती के साथ कोई वास्ता ही नहीं रखना चाहती? उसकी यह कैसी आराधना है कि अपने पति के प्रति भी वह अपना कोई कर्त्तव्य नहीं समझती? मीरा अपने मन में कम दुःख नहीं सहती थीं, परंतु वे अपनी भावना के सामने बेबस थीं। अपने मन की दुविधा का जो उत्तर अन्दर से मिलता, वह था, 'जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।' मीरा का गिरधर-प्रेम उनके परिवार के लिए क्लेश का विषय बन गया था। वह स्त्री जो उस घर की स्वामिनी होकर शासन कर सकती थी, एक मूर्ति के सामने मन-ही-मन यह गुनगुनाने में ही अपना जीवन चरितार्थ मानती थी :

म्हाणे नौकर राखोजी, म्हाणे चाकर राखो जी।

विवाह के कुछ वर्ष बाद पति का परलोकवास हो गया। मीरा पर आक्षेप लगाया गया कि इस दुर्भाग्य का कारण वही है—उन्हीं के हाथों कष्ट पाकर उस व्यक्ति के प्राण गये हैं। मीरा को दुःख था, सहानुभूति थी। परन्तु उनके विरक्त मन पर से अब एक बंधन हट गया था। अपने

मन को पूरी तरह गिरधर गोपाल के प्रति अर्पित करने में अब कोई बाधा नहीं थी। लोग क्या कहते हैं, इसकी चिन्ता छोड़कर अपना पूरा समय हरि-भजन और साधु-संगति में बिताने लगीं।

कुछ दिनों बाद कनवाह के युद्ध में मीरा के पिता रत्नसिंह मारे गये। उधर ससुर राणा सांगा भी वीर-गति प्राप्त कर गये। उनकी मृत्यु के बाद भोजराज के छोटे भाई रत्नसिंह मेवाड के राजा हुए। मीरा एक प्रकार से आश्रयहीन हो गयीं। परंतु यह स्थिति उनके भक्ति-वेग को आगे बढ़ाने में और सहायक हुई। वे पहले से अधिक मनोयोग से अपना समय भगवद्भजन में बिताने लगीं। अपनी भावना को वे जिस किसी रूप में शब्द देतीं, एक गीत की पंक्तियाँ बन जातीं। उन गीतों की गूँज से भी हृदय शांत न होता, तो वे गिरधर गोपाल के सामने नाचने लगतीं :

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे !

अपवाद पहले ही था, अब और बढ़ गया। राजकुल की विधवा बहू खुले स्वर में गीत गाती है! पैरों में घुंघरू बाँधकर नाचती है! उसे न राज-मर्यादा का ध्यान है, न कुल-मर्यादा का! यह निन्दनीय आचरण किसी भी तरह नहीं सहा जा सकता। उसे यह सब छोड़ना ही होगा।

उनके देवर राणा रत्नसिंह ने हर तरह से उन्हें समझाया। वे वास्तविक धर्म का पालन किस तरह कर सकती हैं, इस सम्बन्ध में उपदेश दिये। परंतु मीरा ने जो कुछ भी सुना, उसे मन तक नहीं पहुँचने दिया। जैसेकि उनसे कही जा रही बातें केवल निरर्थक स्वर और शब्द हों। उनका भजन, कीर्तन, नृत्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता। राजभवन में साधु-संतों का आना-जाना इस तरह से होता जैसेकि वह किसी वैरागी की कुटिया हो।

तीन वर्ष बाद राणा रत्नसिंह का भी देहान्त हो गया। उनके सौतेले भाई विक्रमादित्य चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठे। उनमें उतनी भी सहिष्णुता नहीं थी जितनी रत्नसिंह में। उन्होंने निश्चय किया कि मीरा के इस लोक-विरुद्ध आचरण का जैसे भी हो, अन्त होना ही चाहिए। उन्होंने पहले तो मीरा को समझाने का प्रयत्न किया, पर उसमें सफलता

नहीं मिली। फिर उन्होंने अपनी बहन ऊदा को यह भार सौंपा कि वह जैसे भी हो मीरा को इस आचरण से हटाये। ऊदा ने कई युक्तियों से बात मीरा के सामने रखी, पर मीरा पर कोई असर नहीं हुआ। राणा विक्रमादित्य के लिए स्थिति बिलकुल असह्य हो गयी। उन्होंने सोच लिया कि बात इस तरह नहीं सँभलती, तो दूसरा कोई भी उपाय काम में लाने से नहीं कतराना चाहिए। राम-मर्यादा सबसे बड़ी चीज़ है। उसकी रक्षा के लिए मीरा के प्राण भी लिये जा सकते हैं।

इसका पहला प्रयोग हुआ विष देने के रूप में। कहा जाता है कि मीरा के पास विष-भरा कटोरा यह कहकर भेजा गया कि वह भगवान् का चरणामृत है। मीरा विष पी गयीं, परन्तु उसका प्रभाव वही हुआ जो चरणामृत का होता। इस प्रयास में असफलता के बाद उनके प्राण लेने के और कई उपाय किये गए। किंवदन्तियों के अनुसार फूलों की डाली में साँप छिपाकर भेजा गया, सूली की सेज बिछायी गयी। परन्तु कोई भी षड्यन्त्र सफल नहीं हो सका। राजभवन में मीरा के स्वर उसी तरह गूँजते रहे :

हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाणे कोय।

तथा

मैं तो गिरधर के रंग राची।

फिर भी राजभवन में परिस्थितियाँ ऐसी होती जा रही थीं कि अधिक दिन उस सबकी सहते जाना उनके लिए असम्भव हो रहा था। अपनी आराधना के लिए उन्हें जो शान्ति और एकाग्रता चाहिए थी, वह वहाँ नहीं मिल पाती थी। यन्त्रणा भी कई रूपों में दी जा रही थी। अन्ततः उन्होंने निर्णय कर लिया कि वे चितौड़ छोड़ देंगी। उधर वीरमदेव को सूचनाएँ मिल रही थीं कि मीरा वहाँ किस तरह के वातावरण में जी रही हैं। उन्होंने मीरा को अपने पास मेड़ता बुला लिया। वहाँ आकर उनसे तथा भाई जयमल से उन्हें जो सम्मान मिला, उससे पिछले दिनों की पीड़ा को वे भूल गयीं।

परन्तु मीरा के चितौड़ छोड़ने के साथ ही दोनों परिवारों पर राज-

नीतिक विपत्तियाँ घिर आयीं। गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने चितौड़ पर अधिकार कर लिया। राणा विक्रमादित्य मारे गये। जोधपुर के मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। मीरा को लगा कि चितौड़ के बाद कहीं भी उनका सुरक्षित आश्रय में रहना उनके प्रभु को स्वीकार नहीं है। वे मेड़ता छोड़कर तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़ीं। वृन्दावन में उनकी भेंट चैतन्य सम्प्रदाय के जीवगोस्वामी से हुई। कहा जाता है कि पहले तो जीवगोस्वामी ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया। कहा कि वे स्त्रियों से नहीं मिलते। परन्तु जब मीरा ने कहा कि मैं तो वृन्दावन में सबको सीखी रूप में देखती हूँ, पुरुष तो मेरे लिए केवल गिरधर हैं, तो उन्होंने लज्जित होकर भेंट करना स्वीकार कर लिया।

वृन्दावन में रहते हुए वे उन्मुक्त भाव से गायन-कीर्तन में लीन रहने लगीं। भक्त-समुदाय उनके पद सुनकर विभोर हो उठता। परन्तु मीरा ब्रज के बाद अब द्वारिका जाना चाहती थीं। उनके प्रभु के जीवन के साथ द्वारिका का भी गहरा सम्बन्ध था, अतः वे उस भूमि के दर्शन और स्पर्श से वंचित नहीं रहना चाहती थीं। कुछ समय बाद जब वे द्वारिका पहुँचीं, तो वृन्दावन का-सा वातावरण वहाँ भी पैदा हो गया। वही उनकी आराधना, वही उनकी पदावली और वैसे ही उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर गाती भक्त-मण्डली।

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल !

शेरशाह के भारत-सम्राट् होने और चितौड़ की राजगद्दी पर उदयसिंह के बैठने के साथ मेवाड़ में पुनः शान्ति स्थापित हो गयी। चितौड़ में रहते मीरा को जो अपमान और लांछना सहनी पड़ी थी, उसके लिए उदयसिंह को बहुत दुःख था। उन्होंने सोचा कि चितौड़ की ओर से प्रायश्चित्त करने का एक ही रास्ता है, और वह यह कि मीरा को सम्मान के साथ वापस बुला लिया जाय। उन्होंने कुछ ब्राह्मणों को मीरा से अनुरोध करने उनके पास भेजा। कहा कि जब तक मीरा आने के लिए तैयार न हो, उन्हें भी वापिस नहीं आना है। इन ब्राह्मणों ने राणा का सन्देश जाकर मीरा को दिया, तो वे सुनकर चुप हो रहीं। ब्राह्मणों ने

फिर हठ किया, तो उन्होंने कहा कि वे अब रणछोड़जी की सेवा से हटकर कहीं नहीं जा सकतीं। उन्हें अपना शेष जीवन अब वहीं बिताना है। ब्राह्मणों के लिए यह बहुत बड़ा संकट था। बिना उन्हें साथ लिये वे लौटकर राणा के सामने कैसे जा सकते थे? उन्होंने वहाँ सत्याग्रह कर दिया। कहा कि जब तक आप चितौड़ चलने के लिए तैयार नहीं होंगी, हम अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे। मीरा ने उन्हें समझाया, परन्तु वे नहीं माने। हारकर मीरा ने साथ चलने की हामी भर दी और यह कहकर कि जाने से पहले एक बार दर्शन कर आएँ, रणछोड़जी के मंदिर में चली गयीं। उसके बाद चितौड़ लौटकर ब्राह्मणों ने जो बात कही, वह यह थी कि मंदिर में जाकर मीरा रणछोड़जी की मूर्ति के अन्दर अन्तर्धान हो गयीं। हो सकता है मीरा को लौटा लाने में अपनी असमर्थता को छिपाने के लिए ही उन्होंने यह बात कही हो, परन्तु कहा जाता है कि उसके बाद द्वारिका में भी किसी ने मीरा को नहीं देखा।

निकट अतीत : क्रान्तिकारी दृष्टियाँ
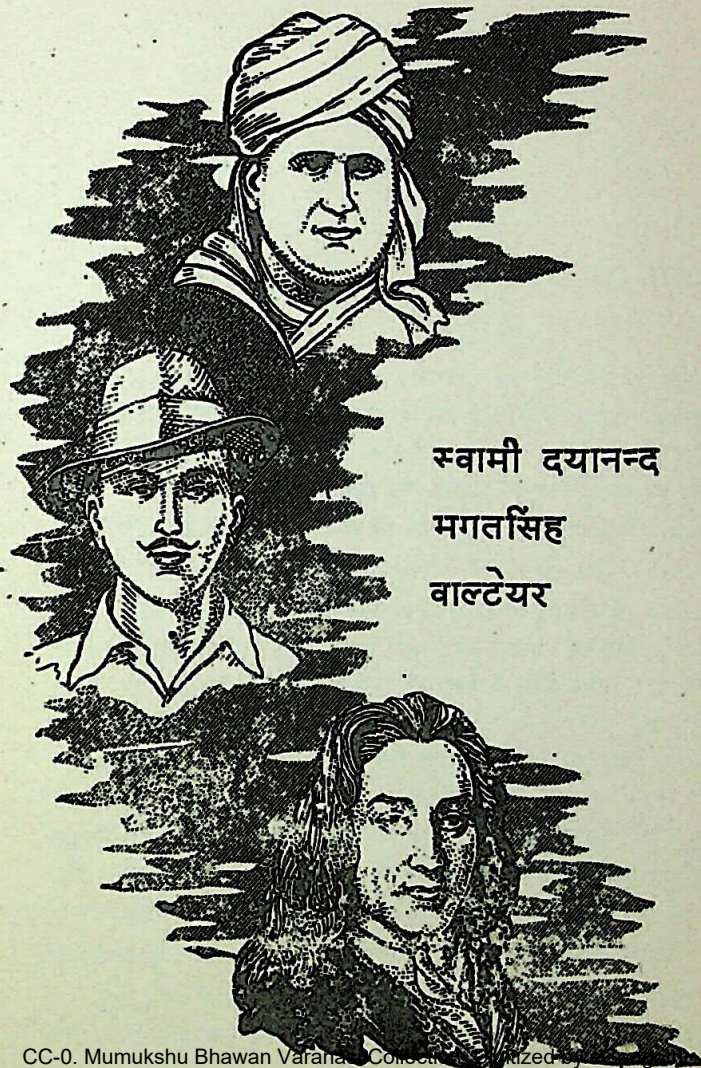
स्वामी दयानन्द

भगतसिंह

वाल्टेयर

स्वामी दयानन्द

काठियावाड़ का एक छोटा-सा गाँव—टंकारा। इसी गाँव में एक सम्पन्न भूमिपति थे—अम्बाशंकर। वे धार्मिक व्यक्ति थे और पौराणिक रीतियों में बहुत विश्वास रखते थे। सारे विधि-विधानों का पालन बहुत नियमपूर्वक किया करते थे। उनके यहाँ एक बालक ने जन्म लिया जिसका नाम रखा गया मूलशंकर। पिता की कामना थी कि बालक की शिक्षा ऐसी हो जिससे बड़ा होकर वह घर की परम्परा बनाये रखे।

मूलशंकर चौदह वर्ष के थे जब पिता ने इनसे शिवरात्रि का व्रत रखने के लिए कहा। रात होने पर पिता पूजा-पाठ के लिए उन्हें गाँव के बाहर एक मन्दिर में ले गये। पूजा का क्रम लगभग आधी रात तक चलता रहा। उसके बाद भक्तों को नींद आने लगी। परन्तु मूलशंकर की आस्था गहरी थी, इसलिए ये नहीं सोये। एकटक शिव-प्रतिमा को देखते रहे। सहसा उन्होंने देखा, एक चूहा बिल से निकलकर प्रतिमा को चढ़ायी गयी भोग की सामग्री खाने लगा। मूलशंकर का मन अशांत हो उठा। उन्होंने पिता को जगाकर उनसे कई प्रश्न पूछे। कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। उस दिन से उनके जीवन की दिशा बदल गयी। उन्होंने वास्तविक शिव को खोजने का संकल्प कर लिया।

कुछ समय बाद मूलशंकर की बहन का देहान्त हो गया। बहन से इन्हें बहुत स्नेह था, इसलिए इनके हृदय को बहुत चोट पहुँची। अभी

यह चोट भरी नहीं थी कि चाचा की मृत्यु हो गयी। इनका मन घर से उचाट होने लगा। मन में तरह-तरह के प्रश्न जागने लगे—जीवन की वास्तविकता क्या है? सांसारिक स्नेह-सम्बन्धों का क्या अर्थ है? धर्म व्यक्ति को किस प्रकार निस्तार देता है? और धर्म का वास्तविक रूप क्या है? ये हर समय खोये-खोये रहते और जब-तब अपने प्रश्नों से घर के लोगों को निरुत्तर कर देते। घर के लोगों ने सोचा कि शायद विवाह कर देने से इसकी मनःस्थिति में कुछ अन्तर आ जाय। मूलशंकर ने इस स्थिति को टालने का प्रयत्न किया। परन्तु वश नहीं चला, तो किसी को भी सूचित किये बिना घर से निकल पड़े।

इधर-उधर घूमते हुए वे सिद्धपुर पहुँचे। सिद्धपुर में उन दिनों एक मेला चल रहा था। जिसमें दूर-दूर से साधु आये हुए थे। यह सोचकर कि शायद इसी मार्ग से शान्ति मिले, उन्होंने भी साधु का बाना स्वीकार कर लिया। रात-दिन साधुओं के सत्संग में सम्मिलित होने, जीवन और मृत्यु का रहस्य जानने का प्रयत्न करते। परन्तु कुछ ही दिनों में उनके वहाँ होने की सूचना घर वालों को मिल गयी। पिता कई और सम्बन्धियों को साथ लेकर सिद्धपुर आ पहुँचे। उन्होंने क्रोध में आकर पुत्र का कमंडलु तोड़ डाला, उसके गेरुआ वस्त्र फाड़ दिये। घर लाकर उन्हें कड़ी निगरानी में रख दिया। परन्तु यह नियन्त्रण अधिक दिन सफल नहीं रहा। मूलशंकर किसी तरह फिर घर से निकल गये। इस बार उन्होंने निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो, अब वे लौटकर घर नहीं आयेंगे।

अब उन्हें खोज थी एक गुरु की। चाणोद कर्णाली पहुँचकर वे स्वामी पूर्णानन्द से मिले। उनसे सन्यास लेकर इन्होंने नया नाम अपना लिया—दयानन्द। उसके बाद भ्रमण करते हुए हरद्वार चले गये। वहाँ कुम्भ-मेला चल रहा था। मेले में उन्होंने धर्म के नाम पर जो कुछ होते देखा, उससे उन्हें बहुत ग्लानि हुई। मन में संकल्प जागा—इन कुरीतियों को दूर करने के लिए उन्हें अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु इसके लिए भी किसी का मार्ग-प्रदर्शन चाहिए था। उन्होंने सुन रखा था कि गढ़वाल

में अलखनन्दा के पार बहुत-से योगी रहते हैं। वे वहाँ पहुँचे, पर कोई ऐसा योगी नहीं मिला जो सचमुच उन्हें दिशा दिखा सकता। वहाँ से वे गढ़मुक्तेश्वर गये। वहाँ एक दिन इन्होंने नदी में बहते एक शव को निकाल लिया। उसकी चीर-फाड़ करके देखना चाहा कि योगियों द्वारा बताए गये चक्र तथा कुंडलिनियाँ आदि उसमें हैं या नहीं। परन्तु शव के अन्दर जो कुछ मिला, वह सर्वथा भिन्न था।

वे कानपुर गये। प्रयाग गये। काशी गये। पर कहीं भी उन्हें अपने मन के अनुकूल गुरु नहीं मिला। फिर पता चला कि मथुरा में दण्डी स्वामी बिरजानन्द नाम के नेत्रहीन ब्राह्मण रहते हैं जो सचमुच उनका पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। वे मथुरा चले गये। स्वामी बिरजानन्द से मिलकर उन्हें लगा कि सचमुच यही गुरु हैं जिसकी उन्हें खोज थी। स्वामी बिरजानन्द संस्कृत व्याकरण के पण्डित थे। वेदों की उन्होंने मौलिक व्याख्या की थी। वे बहुदेवोपासना, मूर्ति-पूजा आदि को वेदों के विरुद्ध बतलाते थे। वे स्वयं एक ऐसे शिष्य की खोज में थे जो उनके विचार जन-साधारण तक पहुँचा सके। दयानन्द ने उनके प्रश्नों के जो उत्तर दिये, उनसे प्रसन्न होकर उन्होंने तुरन्त उसे अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया।

यहाँ इनका संस्कृत व्याकरण तथा वैदिक साहित्य का अध्ययन आरम्भ हुआ। स्वामी बिरजानन्द जो एक बार पढ़ा देते, वह दूसरी बार नहीं पढ़ाते थे। दयानन्द की प्रतिभा इतनी विलक्षण थी कि इन्हें दोबारा पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। कहते हैं कि एक बार का पाठ इतना कठिन था कि ये उसमें से कुछ अंश भूल गये। गुरु से यह बात कही, तो वे उस पाठ को दोहराने को तैयार नहीं हुए। ये निराश होकर यमुना के किनारे एक पेड़ के नीचे जा बैठे। एकाग्रचित्त होकर सोचने से थोड़ी देर में पाठ स्मरण हो आया। जाकर जब गुरु को वह पाठ उन्होंने सुना दिया, तो गुरु की प्रसन्नता की सीमा न रही।

दयानन्द स्वामी बिरजानन्द के पास रहकर ढाई वर्ष अध्ययन करते रहे। वेदों और शास्त्रों को समझने की एक नयी दृष्टि प्राप्त करने

के अनन्तर विदा लेने का समय आया। दयानन्द सोचने लगे कि उन्हें गुरु-दक्षिणा क्या देनी चाहिए। गुरु को लौंग बहुत पसन्द थे। दयानन्द अब कुछ लौंग लेकर उनके पास पहुँचे, तो गुरु ने कहा, "गुरु-दक्षिणा के रूप में मुझे ये लौंग नहीं, कुछ और चाहिए।"

दयानन्द बोले, "मेरा तन-मन आपकी सेवा में है। आप आदेश दीजिये !"

गुरु ने कहा, "चारों ओर अविद्या और अज्ञान का अन्धकार छाया है। रूढ़ियों और मत-मतान्तरों ने देश में घर कर रखा है। तुम देश में ज्ञान और विद्या का प्रकाश फैलाओ, मैं तुमसे यही गुरु-दक्षिणा चाहता हूँ।"

अब अपना स्पष्ट कार्य-क्षेत्र इनके सामने था। देश का मानसिक जीवन अन्धविश्वासों में खोखला हो रहा था। विदेशी राज्य-सत्ता ने सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को लगभग तोड दिया था। लोग कायर थे और अपनी सुविधा ही उनका जीवन-दर्शन था। कुरीतियाँ कितनी ही थीं—जाति-भेद, बाल-विवाह, विधवाओं के प्रति अमानुषिक व्यवहार स्त्रियों को शिक्षा की अधिकारिणी ही नहीं समझा जाता था। जनता के अज्ञान का लाभ उठाकर ईसाई पादरी तत्परता से उसमें अपने-धर्म का प्रचार कर रहे थे। स्वामी दयानन्द ने भी इन सभी परिस्थितियों से एक-साथ लड़ने का निश्चय कर लिया। सोच लिया कि वे लिखकर, भाषण देकर तथा एक संगठन तैयार करके अपने समय की सामाजिक कुरीतियों से लोहा लेंगे। जब तक समाज में जागृति नहीं आयेगी, वे साँस नहीं लेंगे।

पूरे देश में उन्होंने भ्रमण करना आरम्भ किया। आज यहाँ भाषण, कल वहाँ शास्त्रार्थ। आगरा, धौलपुर, ग्वालियर—जहाँ कहीं वे पहुँचे, जनता ने खुलकर उनका स्वागत किया। सदियों से अन्धविश्वासों में जकड़े लोगों को जैसे एक नयी चेतना मिलने लगी। उनकी वाणी में ही ऐसा प्रभाव था कि लोग अनायास उनके अनुयायी बन जाते। जो बातें वे कहते, वे समय की सच्ची अनुभूति थीं; क्योंकि वही अनुभूति लोगों

के अपने अन्दर भी थी, इसलिए उसके मुखर होकर सामने आने से उन्हें लगता जैसे उनके अपने ही मन की बात कोई दूसरा उनसे कह रहा हो। करौली, जयपुर—हर जगह एक-सी हलचल, एक-सी-वैचारिक क्रान्ति। हर जगह पुराने पण्डित-वर्ग की ओर से एक-सा विरोध। परन्तु उस विरोध को पराजित करती वही ओज-भरी वाणी।

फिर आया हरद्वार का कुम्भ-मेला। स्वामी दयानन्द ने वहाँ जाकर फिर वही दृश्य देखा। वही पण्डों का पाखंड, साधुओं के आडम्बर। साधुओं के जुलूस निकलते, तो हजारों स्त्रियाँ उनकी चरणधूलि सिर पर लगातीं। स्वामी दयानन्द से यह सब सहा नहीं गया। उन्होंने वहाँ अपनी 'पाखंड खंडिनी' पताका गाड़ दी और लोगों को वास्तविक आर्य-धर्म का उपदेश देने लगे। पंडों ने उन्हें वहाँ से उखाड़ने के बहुत प्रयत्न किये, परन्तु सफल नहीं हो सके।

स्वामी दयानन्द के सबल व्यक्तित्व तथा अकाट्य तर्कों के कारण जहाँ बहुत से लोग उनके शिष्य बन गये, वहाँ अनेक रूढ़िवादी उनके शत्रु भी हो गये। इन लोगों ने उन्हें मार्ग से हटाने के लिए सभी तरह के प्रयत्न किए। उन पर पत्थर बरसाये। यहाँ तक कि उन्हें विष भी देने का प्रयत्न किया। अनूपशहर में जब उन्हें विष दिया गया, तो उन्होंने यौगिक क्रिया द्वारा सारा विष बाहर निकाल दिया। विष देने के अपराध में जब उस ब्राह्मण को पकड़ लिया गया, तो स्वामी दयानन्द ने यह कह कर उसे मुक्त करा दिया, "मेरा ध्येय मनुष्यों को बन्धन में डालना नहीं, बन्धन से मुक्त कराना है।"

और वह बन्धन था सदियों में बनाये गये ग़लत संस्कारों का। उन्हें उन संस्कारों को बदलना था। लोगों को उस धर्म के निकट ले जाना था जो वास्तविक वैदिक धर्म था, वास्तविक आर्य-धर्म था। इसके लिए आवश्यक था कि उनकी वाणी हर व्यक्ति तक पहुँच सके। पहले वे संस्कृत में भाषण दिया करते थे। परन्तु अपनी बात जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए उन्होंने उन्हीं की भाषा में बात कहने का निश्चय किया। वे अपने भाषण हिन्दी में देने लगे।

एक बार स्वामी दयानन्द कर्णवास पहुँचे। उन दिनों वहाँ गंगा-स्नान का मेला था। हज़ारों लोग देश के विभिन्न भागों से वहाँ स्नान के लिए आये हुए थे। उनमें बरेली के राय कर्णसिंह भी थे। स्वामी दयानन्द ने वहाँ भाषण दिया। जैसे ही भाषण समाप्त हुआ, राय कर्णसिंह उनसे वाद-विवाद करने लगे। स्वामी दयानन्द ने कर्णसिंह से कुछ प्रश्न पूछे जिनका वह उत्तर नहीं दे पाये। अपनी असमर्थता पर उन्हें इतनी खीझ हुई कि वे इन पर गालियों की बौछार करने लगे। क्रोध में उनका हाथ बार-बार तलवार की मूठ पर जा रहा था। यह देख दयानन्द बोले, "यदि शास्त्रार्थ करना है, तो अपने गुरु को यहाँ बुला लाओ। यदि युद्ध करने का शौक है तो एक संन्यासी से क्यों टकराते हो, जयपुर और जोधपुर से जा भिड़ो।" यह सुनकर कर्णसिंह इन पर तलवार से वार करने दौड़े। वे वार करने ही जा रहे थे कि इन्होंने तलवार छीनकर उसके दो टुकड़े कर दिये और कहा, "मैं संन्यासी हूँ। तुम पर वार करके बदला नहीं लूँगा। जाओ, भगवान तुम्हें सुबुद्धि दे।

यूँ तो स्वामी दयानन्द का कार्य-क्षेत्र सारा उत्तर भारत था, फिर भी इन्हें अधिक सफलता पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में मिली। लगभग अठारह वर्ष वे विभिन्न प्रदेशों में घूमकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। एक तरह से कहा जा सकता है कि उन्होंने प्राचीन और नवीन के बीच एक कड़ी का काम किया। १० अप्रैल, १८७५ को बम्बई में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। दो वर्षबाद लाहौर में आर्य समाज की स्थापना की गयी। शीघ्र ही इसने एक व्यापक संगठन का रूप ले लिया और उत्तर भारत के प्रायः सभी नगरों और कस्बों में आर्य समाज के अपने मन्दिर स्थापित हो गये। इनके शिष्यों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि उन्होंने यह वैचारिक क्रान्ति शिक्षा के क्षेत्र में ले जाने का निर्णय कर लिया। शिक्षा के अतिरिक्त राजनीति को भी एक नयी दिशा देने का संकल्प कर लिया गया। इसी उद्देश्य से स्वामी श्रद्धानन्द ने 'गुरुकुल कांगडी' की स्थापना की।

सन् १८८३। महाराजा जोधपुर ने स्वामी दयानन्द को अपने यहाँ

निमन्त्रित किया था। वहाँ कई दिनों तक वे महाराजा के अतिथि के रूप में नियमित रूप से जनता को उपदेश देते रहे। वहाँ रहते इन्हें पता चला कि महाराजा एक वेश्या से प्रेम करते हैं। इन्होंने इस बात की भर्त्सना की, तो वह वेश्या इनकी शत्रु बन गयी। रसोइये से मिलकर उसने इन्हें भोजन में विष खिला दिया। विष के प्रभाव से इनके सारे शरीर पर फफोले निकल आये। चिकित्सा का अच्छे-से-अच्छा प्रबंध किया गया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। सन् १८८३ की दीवाली का दिन था। स्वामी दयानन्द गायत्री मंत्र का उच्चारण करते-करते एकाएक मौन हो गए।

कुछ ही व्यक्ति होते हैं जिनकी मृत्यु उनके जीवन से अधिक क्रांतिकारी सिद्ध होती है। स्वामी दयानंद ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। उनकी मृत्यु के कुछ ही वर्षों के अंदर आर्य समाज ने एक अत्यंत सबल आंदोलन का रूप ले लिया। शिक्षा के क्षेत्र में तो इनके अनुयायियों ने सचमुच एक क्रांति ला दी। स्वामी दयानंद को एक तरह से उत्तर भारत में आधुनिक विचारधारा का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में उन्होंने जो स्थापनाएँ सामने रखीं, उन्हीं के आधार पर समाज का मानसिक पुनर्गठन सम्भव हो सका। जब कांग्रेस का जन्म भी नहीं हुआ था, तभी उन्होंने कहा था कि स्वराज्य के बिना कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। भाषा के संबंध में उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी हमारे संस्कारों की भाषा नहीं है, संस्कृत जनसाधारण से दूर जा पड़ती है, इसलिए हिंदी ही संपूर्ण राष्ट्र की भाषा हो सकती है। गांधीजी के हरिजन-आंदोलन से बहुत पहले उन्होंने कहा था कि अस्पृश्यता हमारे समाज के लिए घातक है। वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी उसका आधार जन्म को नहीं, कर्म को माना था। कहा था, "जन्म में सब बराबर हैं। अपने कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है।" इसी तरह स्त्री-शिक्षा का सूत्रपात तथा विधवा-विवाह का समर्थन करके उन्होंने एक पिछड़े समाज को अग्रगामी बनाने में बहुत बड़ा योग दिया। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ने इन शब्दों में उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की थी, "जिसकी दिव्य दृष्टि ने भारत की

आत्म-गाथा में सत्य और एकता का बीज देखा, जिसकी प्रतिभा ने भारतीय जीवन के विविध अंगों को प्रदीप्त कर दिया, जिसका उद्देश्य इस देश को अविद्या, अकर्मण्यता और प्राचीन ऐतिहासिक तत्व विषयक अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता के लोक में लाना था, उस गुरु को मेरा बारम्बार प्रणाम है !"

भगतसिंह

एक बार एक बच्चे ने अपने पिता को खेत में हल चलाते देखकर पूछ लिया कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। पिता ने उत्तर दिया कि वे ज़मीन में अनाज बोने की तैयारी कर रहे हैं। बोये गये दाने पौधे बनकर अगली फ़सल में बहुत-सा गेहूँ उगायेंगे। बच्चे के प्रिय खिलौने थे बन्दूक और तलवार। वह बोला, "तो आप बन्दूक और तलवार क्यों नहीं बोते जिससे अगली फ़सल में बहुत-सी बन्दूकें और तलवारें उग आयें?"

यह बच्चा बाद में क्रांतिकारी सरदार भगतसिंह के नाम से विख्यात हुआ।

क्रांतिकारी विचारधारा भगतसिंह के परिवार में ही थी। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में इनके पिता किशनसिंह तथा चाचा अजीतसिंह का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् १९०७ में जिस दिन भगतसिंह का जन्म हुआ, उसी दिन यह समाचार भी प्राप्त हुआ कि सरदार अजीतसिंह मांडले जेल से रिहा होकर आ रहे हैं। सरदार किशनसिंह भी उसी दिन नेपाल से लौटकर आये थे। भगतसिंह की दादी को लगा कि यह सब-कुछ इस बच्चे के भाग्य से हो रहा है, इसलिए वह इसे भागवाला कहकर बुलाने लगी। यही नाम आगे चलकर भगतसिंह में बदल गया।

पिता और चाचा के क्रांतिकारी विचारों के कारण भगतसिंह को बचपन से ही घर में देश-भक्ति का वातावरण मिला। शिक्षा के दिनों

इन्हें जो साथी मिले, वे भी इसी भावना से अनुप्राणित थे। डी० ए० वी० स्कूल लाहौर से मैट्रिक पास करके ये लाला लाजपतराय द्वारा संचालित नैशनल कॉलेज में प्रविष्ट हो गए। सुखदेव और भगवतीचरण आदि युवा क्रांतिकारी भी उन दिनों वहीं पर थे। इस वातावरण में अर्थशास्त्र और राजनीति में भगतसिंह की दिलचस्पी बढ़ने लगी। कॉलेज की वाद-विवाद प्रतियोगिता को भी उन्होंने एक नया स्वर देना शुरू किया। यह स्वर क्रांति के बीज बोने वाला तो था ही, ब्रिटिश साम्राज्य कोएक चुनौती देने वाला भी था।

घर के लोगों को भगतसिंह से बहुत स्नेह था। उन पर दबाव डाला जाने लगा कि वे शीघ्र विवाह कर लें। परन्तु भगतसिंह के मन में तो यह कल्पना ही नहीं थी। उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया। लेकिन उनके विरोध की ओर ध्यान न देकर जब एक जगह उनके विवाह की बात पक्की कर दी गयी, तो वे चुपचाप घर छोड़कर निकल पड़े।

अब प्रश्न सामने था कि जीने का साधन क्या हो। नौकरी ? परन्तु कैसी नौकरी ?

कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी 'प्रताप' नामक पत्र निकाल रहे थे। भगतसिंह कानपुर जाकर विद्यार्थीजी से मिले। पत्र की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी—उस पर सरकार की कोप-दृष्टि रहती थी। विद्यार्थीजी सरकारी नीतियों की निर्भीक आलोचना करते थे, इसलिए अधिकांश शिक्षित लोग उसे अपनाने से कतराते थे। मुकद्दमा भी कोई-न-कोई चलता ही रहता था। पत्र इसस्थितिमें नहीं था कि भगतसिंह को समुचित वेतन दिया जा सके। परन्तु भगतसिंह के लिए यह चीज महत्त्व नहीं रखती थीं। उन्होंने विद्यार्थीजी से कहा कि उन्हें केवल दो समय के भोजनके लिए पैसा चाहिए, और कुछ नहीं। मैं आपके सम्पर्कमें रहकर देश-सेवा की कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकूं, यह मेरे लिए कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है।"

भगतसिंह 'प्रताप' में विद्यार्थीजी के सहकारी के रूप में कार्य करने लगे। सुविधा के लिए नाम उन्होंने दूसरा रख लिया—बलवन्तसिंह।

वहीं काम करते हुए बटुकेश्वर दत्त से इनका परिचय हुआ। इससे क्रांतिकारी जीवन के बीज और अंकुरित होने लगे।

घर से समाचार मिला कि माँ बहुत बीमार हैं। भगतसिंह उनसे मिलने गए और निरपराध जेल में ठूंस दिए गए।

रामलीला का दिन था। लाहौर में उस दिन बहुत बड़ा मेला लगा करता था। मेले में हजारों लोगों की भीड़ के बीच अचानक एक बम फटा। उससे कई लोग मारे गये, कई भाग दौड़ में कुचले गये। बम फेंकने वाले का पता नहीं चला। मगर पुलिस को भगतसिंह पर अभियोग लगाने का एक बहाना मिल गया। उन्हें बम फेंकने के अपराध में पकड़ लिया गया। कई निरपराध देशवासियों की हत्या, यह एक ऐसा आरोप था जिसके कारण भगतसिंह का हृदय छटपटाने लगा। बहुत दौड़-धूप के बाद सरदार किशनसिंह ने साठ हजार की जमानत दिलवाकर उन्हें छुड़ा लिया। परन्तु जमानत देने वाले की एक शर्त भी थी। वह यह कि जमानत पर रहते वे क्रांतिकारी कार्यों में भाग नहीं लेंगे। मन मार कर भगतसिंह को कुछ समय के लिए अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों को स्थगित कर देना पड़ा।

परन्तु चुप बैठे रहना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। उन्होंने उन्हीं दिनों 'नौजवान भारत सभा' का संगठन कर डाला जिसका उद्देश्य था भारत में सामाजिक और राजनैतिक जागरण की भूमिका तैयार करना। भगतसिंह का मन अब क्रांति से आगे के प्रश्नों से जूझने लगा था—गोरे शासकों के चले जाने के बाद देश की शासन-व्यवस्था क्या होगी? स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ क्या है? स्वतंत्रता एक लक्ष्य है, परन्तु उस लक्ष्य तक पहुंचने का निश्चित उद्देश्य?

सितंबर १९२८। दिल्ली में पुराने किले के मैदान में प्रसिद्ध क्रांतिकारियों की एक सभा। अब तक इनके क्रांतिकारी दल का नाम था 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी।' भगतसिंह ने प्रस्ताव रखा कि नाम बदलकर 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' कर दिया जाय। कहा कि इसी से स्पष्ट होगा कि हम देश में किस तरह का शासन चाहते हैं। यदि हमारा आन्दोलन जनता का आन्दोलन है, तो जनता के हितों को सामने

रखकर चलना आवश्यक है। पहले तो उनके प्रस्ताव को समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु अंत में सब लोग सहमत हो गए। दल ने नया नाम अपना लिया जिसका संक्षिप्त रूप था—एच० एस० आर० ए०।

उसके बाद दलका कार्यालयझाँसी में आ गया। उन दिनों का वर्णन श्री भगवानदासने अपने संस्मरणों में इस प्रकार किया है, "हम लोग दाल एक टूटे मटके की पेंदीमें बनातेथे। अपने पाक-शास्त्र के ज्ञान से नमक-मिर्च तो डाल लेते—कभी कम, कभी ज्यादा—परन्तु दाल में हल्दी भी पड़ती है, इस रहस्य का हमें ज्ञान न था। अतः हमारी दाल शक्ल-सूरत में ऐसी होती थी कि साधारण भूख तो उसे देखते ही भाग जाती।"

रोटी के नाम पर मोटे-मोटे अधजले टिक्कड़ और बिस्तर के स्थान पर अखबार—इस तरह का जीवन व्यतीत करते हुएये युवा क्रान्तिकारी अपने को शिक्षित करने का भी प्रयत्न कर रहे थे। पुस्तकें खरीदने की सामर्थ्य नहीं थी, इसलिए भगतसिंहअपने मित्रों-परिचितों से पुस्तकें मांग-मांगकर ले आते। स्वयंपढ़ते तथा शेष लोगोंसे पढ़ने का अनुरोध करते। इस तरह इनके पास अपना एक छोटा-सा पुस्तकालय भी तैयार हो गया।

यही समय था जब सूचना मिली कि 'साइमन कमीशन' लाहौर आ रहा है। भगतसिंह लाहौर चले गये। वहाँ 'साइमन कमीशन' के विरोध में प्रदर्शन करते हुए लाला लाजपतराय को घातक चोटें आ गयीं। भगत-सिंह का खून खौल उठा। क्रांतिकारियों की एक बैठक हुई जिसमें तय पाया कि लालाजी पर हुए आक्रमण के लिए उत्तरदायी पुलिस-अफ़सर सैंडर्स को जान से मार दिया जाय।

१७ दिसम्बर, १६२८। शाम के चार बजे। छुट्टी होते ही सैंडर्स पुलिस-कार्यालय से निकलकर मोटर साइकिल पर सवार हुआ। ज्यों ही मोटर साइकिल चलने को हुई, शिवराम, राजगुरु और भगतसिंह ने उस पर गोलियाँ चलायीं। चन्द्रशेखर आजाद भी इनके साथ थे। सैंडर्स तड़प कर गिर पड़ा। ये लोग डी० ए० वी० कॉलेज के होस्टल में जा छिपे और कुछ देर पुलिस की राह देखकर वहाँ से भी साइकिलों पर हवा हो गये।

बाद में पुलिस ने होस्टल के चप्पे-चप्पे की तलाशी ली, पर वहाँ उन्हें कौन मिलता ? अब लाहौर से बाहर जाने वाली सब सड़कों और आसपास के स्टेशनों पर पुलिस का कड़ा पहरा बैठा दिया गया। पर सारी निगरानी के बावजूद अगले दिन नगर के प्रमुख स्थानों पर ये पोस्टर लगे देखे गये : "सैंडर्स मारा गया। लालाजी की मृत्यु का बदला ले लिया गया।"

और कुछ ही दिनों बाद एक सरकारी अफ़सरनुमा आदमी वैसे ही साज़-सामान के साथ लाहौर स्टेशन पर गाड़ी पर सवार होने आया। उसके साथ आधुनिक वेषभूषा में एक सुन्दर युवती भी थी। सरकारी चपरास पहने एक अरदली भी साथ में था। दिल्ली की गाड़ी आने पर ये लोग फ़र्स्टक्लास के डिब्बे में सवार हो गये। इस तरह खुफिया पुलिस की आँखों में धूल झोंककर भगतसिंह, शिवराम तथा राजगुरु लाहौर से भाग निकले। पीछे रह गये चन्द्रशेखर आज़ाद। उन्होंने एक पंडे का वेष धारण करके अपने साथ तीर्थ-यात्रियों की एक टोली तैयार कर ली और भजन-कीर्त्तन करते उत्तर-प्रदेश पहुँच गये।

अब क्रान्तिकारी संगठन का कार्य-क्षेत्र पहले से बहुत विस्तृत हो गया था और पुलिस की और भी कड़ी नज़र उन पर रहने लगी थी। अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने के लिए उन्हें बहुत दौड़-धूप करनी पड़ती थी इसलिए इस दृष्टि से आत्म-निर्भर होने के लिए उन्होंने सारे संकटों के बीच आगरा, लाहौर तथा झांसी में बम बनाने के कारखाने स्थापित कर लिए। पुलिस की सतर्कता बढ़ गई। परन्तु पुलिस को हर तरह से झाँसा देकर ये लोग अपना कार्य आगे बढ़ाते रहे।

भगतसिंह को लग रहा था कि अब अवसर आ गया है जब उन्हें अपना दृष्टिकोण जनता के सामने रखना चाहिए। असेंबली में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पेश होने को था। नागरिक स्वतंत्रता पर होने वाले इस प्रहार का विरोध करने के लिए सोचा गया कि असेंबली-अधिवेशन के समय वहाँ बम फेंका जाय—मगर ऐसा बम जिससे धमाका ही हो, किसी के जीवन की क्षति न हो। बम फेंककर ये लोग अपने को पुलिस के हवाले

कर दें। बाद में जब मुकद्दमा चले, तो अपने बयानों द्वारा अपना उद्देश्य जनता के सामने रखें।

असेंबली में गरमागरम बहस चल रही थी जब सरकारी बेंचों की तरफ बम फटने का शब्द सुनायी दिया। फिर एक बार वैसा ही शब्द और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा वातावरण में गूंज उठा। भगदड़ शान्त होने पर लोगों ने देखा कि भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त महिलाओं की गैलरी के पास खड़े नारे लगा रहे हैं और लाल रंग के पर्चे बाँट रहे हैं। पर्चों पर पहला वाक्य था, "बहरों को सुनाने के लिए जोर से बोलना पड़ता है।" पर्चे बाँटकर वे दोनों मुसकराते हुए वहीं खड़े रहे और पुलिस द्वारा बंदी बना लिये गये।

दोनों को दिल्ली जेल की अलग-अलग कोठरियों में बंद कर दिया गया। डरा-धमकाकर उनसे क्रांतिकारी संगठन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाने लगे। तरह-तरह की यन्त्रणाएँ देकर भी इनसे कुछ पता नही चला, तो इन पर मुकद्दमा चला दिया गया।

मुकद्दमे की कार्यवाही आरम्भ हुई जेल के अंदर, क्योंकि खुली अदालत में कार्यवाही करने से जनता में बहुत हलचल पैदा होने की आशंका थी। जेल के अंदर और बाहर पुलिस का कड़ा पहरा बिठा दिया गया। कार्यवाही के बाद निर्णय सुनाया गया—दोनों को आजीवन कारावास। उसके बाद बटुकेश्वर दत्त को लाहौर सैण्ट्रल जेल में डाल दिया गया और भगतसिंह को मियाँवाली जेल में भेज दिया गया। मगर जेल में रहते इन लोगों की विद्रोह-भावना एक और मार्ग से बाहर फूट निकली। बाहर इनकी लड़ाई राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के लिए थी। जेल के अन्दर उसने राजनीतिक आत्म-सम्मान का रूप ले लिया। राजनीतिक बन्दियों के साथ में जो व्यवहार होता था, वह इन्हें सह्य नहीं लगा। इसके लिए इन्होंने जो माँगें सामने रखीं, वे सरकार ने स्वीकार नहीं कीं। भगतसिंह तथा अन्य क्रांतिकारियों ने जेल में अनशन आरम्भ कर दिया।

उधर सॉंडर्स-हत्याकांड के सिलसिले में पकड़े गये सन्दिग्ध व्यक्तियों

से सरकार को किसी तरह पता चल गया था कि सैंडर्स की हत्या के लिए वास्तव में भगतसिंह उत्तरदायी है। वे अनशन के कारण बहुत कमज़ोर थे, फिर भी अभियोग की जाँच के लिए उन्हें मियाँवाली से लाहौर ले आया गया। कुछ दिनों में उनकी अवस्था बहुत बिगड़ने लगी। अधिकारियों ने उन्हें जबर्दस्ती कुछ-न-कुछ खिलाना चाहा। मुँह और नाक के रास्ते दूध उनके पेट में पहुँचाने की चेष्टा की। परंतु सफलता नहीं मिली। देश में इन लोगों के अनशन को लेकर व्यापक असंतोष फैलता जा रहा था। सभाएँ हो रही थीं जिनमें इनकी नैतिक मांगों का समर्थन किया जा रहा था। बीच में इनकी हालत बिगड़ती देख कुछ नेताओं ने इनसे अनशन छोड़ देने का अनुरोध भी किया, परंतु ये लोग अपने हठ से नहीं हटे।

आखिर सरकार सचेत हुई। इन लोगों से प्रकट की जाने वाली सहानुभूति एक आंदोलन का रूप लेती जा रही थी, इसलिए हारकर उसे इन लोगों की मांगों पर विचार करने के लिए एक समिति का निर्माण करना पड़ा। अनशन करने वालों में क्रांतिकारी यतीन्द्रनाथ दास भी थे। उनकी दशा शोचनीय हो गयी थी, इसलिए समिति ने सुझाव दिया कि उन्हें बिना शर्त रिहा कर दिया जाय। यह सूचना पाकर भगतसिंह तथा उनके साथियों ने अनशन भंग करने का निश्चय कर लिया। परन्तु दूसरे दिन समिति का मत बदल गया। कहा गया कि यतीन्द्रनाथ दास को जमानत पर छोड़ा जा सकता है। यतीन्द्रनाथ दास इसके लिए तैयार नहीं हुए। अनशन फिर से आरम्भ हो गया। बासठ दिन के अनशन के बाद जेल में ही यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु हो गयी। सारे देश में आवेश-भरा शोक छा गया। यह मृत्यु अपने में ही इतनी क्रांतिकारी थी कि देश में उबाल-सा उठने लगा। सरकार ने सतर्क होकर जल्दी से जेल के नियमों में अपेक्षित सुधार कर दिये। राजनीतिक बन्दियों के लिए जेल में 'ए', 'बी' तथा 'सी' श्रेणियाँ बना दी गयीं। एक सौ पन्द्रह दिनों के बाद भगतसिंह तथा उनके साथियों ने अपना अनशन भंग किया।

परंतु सरकार को सैंडर्स की हत्या का प्रतिशोध अभी लेना था। उसने एक नया अध्यादेश जारी करके लाहौर-षड्यंत्र के मुकद्दमे को एक विशेष न्यायालय को सौंप दिया। भगतसिंह तथा उनके साथियों ने इस न्यायालय की वैधानिकता स्वीकार नहीं की और अपना पक्ष रखने उसके सामने नहीं गये। इस तरह केवल सरकारी अभियोग के आधार पर न्यायालय ने निर्णय दे दिया—भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी तथा अन्य कुछ लोगों को काला पानी।

देश-भर में एक तूफ़ान-सा उठ आया। सभाएँ हुईं। जुलूस निकले। वक्तव्य दिये गए। प्रदर्शन किये गए। परंतु सरकार अपने निर्णय से नहीं हटी। २३ मार्च, १९३१ को रात के आठ बजे शेष दोनों साथियों के साथ भगतसिंह को फाँसी पर लटका दिया गया। प्रायः फाँसी सुबह दी जाती थी, पर उस नियम को ताक पर रखकर प्राण लेने का काम रात में ही निपटा दिया गया। अन्तिम क्षण तक इनके मुँह से निकले ये शब्द वातावरण में गूंजते रहे—'इंकलाब—ज़िंदाबाद !'

फाँसी के बाद उन तीनों साथियों के शरीर उनके संबंधियों को नहीं दिये गए। उसमें भी सरकार को अपने लिए खतरा नज़र आया। यह समझने में सरकार को कई वर्ष लगे कि फाँसी व्यक्ति को दी जा सकती है, उसकी भावना को नहीं। परिणाम ? इतिहास साक्षी है।

वाल्टेयर

कहते हैं कि जो बच्चे जन्म के समय बहुत कमजोर होते हैं, वे या तो बचते नहीं और अगर बच जाते हैं; तो बहुत सबल व्यक्तित्व लेकर बड़े होते हैं।

सन् १६९४ में जब वाल्टेयर ने नोतेअर एरुवे के यहाँ पेरिस में जन्म लिया तो घर के इस सबसे छोटे बच्चे के जी जाने की आशा किसी को नहीं थी। वह एक रोगी-सा दिखने वाला बच्चा था—दुबला और पीत-वर्ण। उसकी झूलती-सी पतली टाँगों को जब नर्स हाथ में लेती, तो उसे लगता कि उसने एक मकड़े की हिलती टाँगों को थाम लिया है। लेकिन अपने सिकुड़े-मुरझाये शरीर के बावजूद यह बच्चा जीवित रहा और बड़ा होकर अपने समाज के सिकुड़े-मुरझाये विचारों में क्रांति लाने का प्रयत्न करता रहा।

वाल्टेयर का वास्तविक नाम था फ्रांस्वा मेरी एरुव। अपना प्रख्यात नाम उन्होने स्वयं बाद में अपनाया था।

तीन साल की उम्र से ही फ्रांस्वा की विलक्षण प्रतिभा का परिचय उनके घर के लोगों को मिलने लगा था। वे जो भी किस्सा-कहानी सुनते, उसे ज्यों-का त्यों दोहरा देते। स्कूल-शिक्षा के दिनों में वे क्लास में ऐसे सवाल-जवाब करते कि अध्यापक उन्हें आश्चर्य से देखते रह जाते। रूढ़ि से हटकर सोचने की शिक्षा उन्हें अपने धर्म-पिता अब्बे दशातोनों से मिली,

थी। धर्म-पिता ने कई ऐसी बातें भी उन्हें सिखादी थीं जो साधारणतया आदमी वयस्क होने पर ही सीखता है। इससे काफ़ी आत्म-विश्वास भी उनके अंदर पैदा हो गया था। उनके साथी जब अपनी जीविका आदि की बातें कह रहे होते, तो एक हल्की-सी मुसकराहट से ये उन्हें काफ़ी छोटा कर देते। अपने भविष्य के सम्बन्ध मे एक निर्णय उनके अंदर अपने-आप ही हो गया था। इसलिए उनके पिता को काफ़ी धक्का लगा जब लड़के ने उनकी इच्छा के अनुसार वकालत का पेशा अपनाने की जगह यह घोषणा कर दी, "मैं सिवाय पढ़ने-लिखने के और कोई काम नहीं करना चाहता।"

उस समय फ्रांस में भी केवल लिखकर जीना एक युवा व्यक्ति के लिए आसान नहीं था। परन्तु फ्रांस्वा की पीठ ठोंकने के लिए उसके धर्म-पिता थे। उन्हें इस बात पर गर्व था कि फ्रांस्वा अपने घर के लोगों से कहीं अधिक उनके प्रभाव में है। वे अपने मित्रों-परिचितों के बीच उस लड़के की प्रतिभा की चर्चा करते अघाते नहीं थे। उसके उग्र विचारों में वे अपनी दी हुई शिक्षा का ही बीज देखते। वह जो कविताएँ लिख रहा था, उसका संबंध वे उस साहित्य से जोड़ते जिसके साथ फ्रांस्वा का परिचय स्वयं उन्होंने कराया था। उनका विश्वास था कि गिरजाघर से जुड़े होने पर भी वे अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं और उस व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो रही है इस युवा कवि की रचनाओं में। क्योंकि उनका परिचय राज-भवन से सम्बद्ध कई लोगों से भी था, इसलिए फ्रांस्वा को बहुत शीघ्र ही प्रशंसा और सम्मान का वातावरण प्राप्त हो गया। जिन लोगों ने सहसा उसे एक मूर्ति की तरह अपना लिया, उनमें से कुछ तो सहृदय और मेधावी भी थे, परंतु अधिकतर थे ऐसे शौकीन-मिज़ाज लोग जिनके लिए साहित्य भी खाने-पहनने जैसा ही एक शौक होता है। वे किसी भी एक व्यक्ति की प्रतिभा की प्रशंसा करके अपनी प्रतिभा का परिचय दे लेते हैं। इसलिए वे फ्रांस्वा की कविताओं से अधिक उसकी तेज-तर्रार बातों पर मुग्ध होते—उसके मुँह से निकले एक-एक वाक्य को यहाँ-वहाँ सुनाते फिरते। उन्हीं दिनों फ्रांस्वा ने अपना

पहला नाटक लिख डाला—'ओदीप'। उसके बहुत-से प्रशंसकों ने वह नाटक न पढ़ा, न सुना, पर उसकी प्रशंसा वे जी खोलकर करने लगे। फिर भी किसी नाटक-मण्डली ने तुरन्त उस नाटक को खेलने का प्रस्ताव नहीं किया तो फ्रांस्वा के मन को बहुत धक्का लगा। उसने मान लिया कि या तो वे लोग उससे जलते हैं, या फिर नाटक उनकी समझ से बाहर है।

वाल्टेयर के पिता देख रहे थे कि लड़का बिलकुल उनके हाथ से बाहर होता जा रहा है। पूरा-पूरा दिन आवारा लोगों के साथ कभी यहाँ घूम रहा है, कभी वहाँ। कोई ठिकाना ही नहीं कि कब घर लौटकर आएगा और आयेगा भी या नहीं। जिस मण्डली में वह घूमता था, उसमें कुछ ऐसी महिलाएँ भी थीं जिनके साथ उसका उठना-बैठना उन्हें सह्य नहीं था। उन्होंने निश्चय किया कि उसे पेरिस से बाहर भेज देंगे। अब्बे द शातोनाँ के भाई हॉलैण्ड में फ्रांस के राजदूत थे। उन्होंने उसे उनके पास भेज दिया। पर कुछ ही दिनों में राजदूत महोदय ने उसके उग्र आचरण के कारण उसे फिर पेरिस लौटा दिया।

सन् १७१५ में लुई १४वें की मृत्यु के बाद १५वें के राज्य-भार सँभालने पर जन-जीवन से कई तरह के प्रतिबन्ध हटा दिये गये, जिससे लेखकों को स्वतंत्र रूप से लिखने-सोचने की सुविधा मिल गयी। उस सुविधा के कारण बहुतों ने अपनी रचनाओं में अपने विचार खुलकर व्यक्त किये, परन्तु वाल्टेयर इस दिशा में इतना आगे बढ़ गये कि उन्हें अपने राज-विरोधी लेखन के लिए जेल की हवा खानी पड़ी। जेल में रहते उन्होंने अपने महाकाव्य 'हेनरी चतुर्थ' पर काम करना आरम्भ किया जिसका प्रकाशन काफी बाद में 'हेनरियेड' के नाम से हुआ। परन्तु राज्य ने जिस उद्देश्य से उन्हें जेल में ठूंसा था, उससे बिल्कुल उलटा प्रभाव लेकर वे जेल से बाहर आये। उन तमाम परम्परागत संस्थाओं के प्रति उनके मन में तीव्र घृणा जाग उठी थी जो व्यक्ति के स्वतंत्र चिन्तन में बाधा बन सकती थी।

जेल से छूटकर आने के बाद वाल्टेयर ने पेरिस में 'ओदीप' के अभिनय

की व्यवस्था कर ली। नाटक खेला गया। उसे जो सफलता मिली, वह वाल्टेयर की अपनी आशा से कहीं अधिक थी। दर्शकों की इतनी बड़ी भीड़ नाटक देखने उमड़ आती कि उसे सँभालना कठिन हो जाता। परन्तु दर्शकों के आकर्षण का कारण नाटक के रूप में उसकी विशेषता नहीं, एक और ही बात थी। लोगों को लगता था कि वाल्टेयर ने अपने नाटक में उस समय के राजसी जीवन पर टिप्पणी-की है। उन्हें लगता कि नाटक के पात्र उनके जाने-पहचाने हैं। वे वही राज-परिवार के सदस्य तथा राज-कर्मचारी हैं जिनके भ्रष्ट जीवन से उनका निज का परिचय है। नाटक की घटनाएँ उन्हीं लोगों से जीवन की वास्तविक घटनाएँ हैं। इस तरह नाटक का आकर्षण लोगों के लिए वाल्टेयर के व्यक्तित्व का आकर्षण बन गया। वाल्टेयर की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। उन्हे लगा कि उनका मुख्य क्षेत्र नाट्य-लेखन ही है। उन्होंने एक के बाद एक कई नाटक लिख डाले। परन्तु 'ओदीप' की जिस विशेषता ने लोगों को अपनी ओर खींचा था, । वह विशेषता इन नाटकों में नहीं थी।

जितनी तेजी से वाल्टेयर ने नाटक लिखे, उतनी ही तेजी से वे असफल होते गए। हर नयी असफलता वाल्टेयर को नए सिरे से क्षुब्ध करती और नए सिरे से जन-रुचि के प्रति उनकी कटुता को बढ़ा देती। उन्हें लगता कि लिखने से अधिक महत्वपूर्ण है लोगों के सोच-विचार को बदलना—उसे एक नया संस्कार देना। वे अपनी रचनाओं को लेकर काफ़ी तर्क-वितर्क करते और अपनी रचना-दृष्टि लोगों के सामने रखने के लिए एक वैचारिक ग्रन्थ लिखने की बात किया करते।

नाटकों की असफलता के बाद वे फिर अपने महाकाव्य में जुटे जिसका प्रकाशन १७२३ में हुआ। प्रकाशन की व्यवस्था उन्हें स्वयं रुआँ नगर में जाकर करनी पड़ी, क्योंकि पेरिस में कोई उसे छापने को तैयार नहीं हुआ। उनके लेखन पर राजसी कोप-दृष्टि पहले से ही थी—'हेनरियेड के सम्बन्ध में यह अफ़वाह फैल गयी थी कि उन्होंने धार्मिक कट्टर-वादिता पर खुलकर आक्षेप किए है। लोग उस हद तक ही उनके वैचारिक विद्रोह का साथ देना चाहते थे जिस हद तक सुविधापूर्वक दिया

जा सकता था। 'हरचीज एक हद तकही ठीक होती है', यह कहने वाले बहुत थे। परन्तु इस तरह की दृष्टि से समझौता करना वाल्टेयर के स्वभाव में नहीं था। परिणामस्वरूप १७२५ में शिवैलिए द रोहान से उनकी खासी झड़प हो गयी। रोहान ने उनका अपमान किया; उन्होंने करारा उत्तर दिया। रोहान ने अपने गुर्गों से उन्हें पिटवा दिया। वाल्टेयर ने रोहान को द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती दी, परन्तु निश्चित समय से पहले ही उन्हें फिर से पकड़कर जेल में डाल दिया गया। वाल्टेयर को अपने आसपास के पूरे वातावरण से ही चिढ़ हो गयी। उन्होंने निश्चय किया कि अब वे फ्रांस में नहीं रहेंगे। जेल से छूटने पर वे राज्य से अनुमति लेकर इंगलैण्ड चले गये।

इंगलैण्ड में उन्हें मान्यता मिली। सहानुभूति भी मिली। वहाँ के प्रायः सभी प्रतिभाशाली व्यक्तियों से उनका परिचय भी हो गया—स्विफ्ट से, पोपसे, यंगसे तथा ग्रे से। वहाँके सम्भ्रान्त मगबज के साथ भी उनका घनिष्ट परिचय हो गया। जो उफ़ानवे मन में लेकर आये थे, उसे यहाँ वे आसानीसे बाहर निकाल सकतेथे। इंगलैण्ड के लोग इस दृष्टि से अधिक उदार थे। वे रूढ़िमुक्त विचारों से उस तरह नहीं घबरातेथे जिस तरह फ्रांस के लोग। वाल्टेयर को इंगलैण्ड में रहते आर्थिक उपलब्धि भी हुई। 'हेनरियेड' कासंस्करण काफ़ी बिका। १७२९ में पेरिस लौटने तक उन्होंने काफ़ी कामभी कर लिया। एक नये समाजकी कामनाउनके अन्दरपहले से ही थी। इंगलैण्ड-प्रवास ने उस समाज की रूपरेखा उनके मन में और स्पष्ट कर दी।

१७२९ में वे फिर फ्रांस लौट आये। वहाँ आते ही उन्हें ख्याति भी मिली, धन भी। उनके नाटक काफी सफलताके साथ खेले जाने लगे। परन्तु उनके विचार अब पहले से अधिक उग्र हो गएथे। अपने यहाँ की सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के प्रति उनका असन्तोष कहीं अधिक बढ़ गया था। वे एक नयी विश्व-रचना चाहते थे जिसका आधार था नागरिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता, व्यापारिक विकास तथा वैज्ञानिक प्रगति। 'क्षेत्र फ़िलसोफ़ीक' नाम की पुस्तकमें उनके जो क्रान्तिकारी विचार

प्रकाशित हुए, उनसे घबराकर पुलिस ने उस पुस्तक को ज़ब्त करा दिया। वाल्टेयर को अब फिर पेरिस से भागना पड़ा। उन्होंने अपनी मित्र तथा प्रशंसिका मदाम दु शात्ले के सीरे स्थित भवन में आश्रय लिया।

वाल्टेयर उनतालीस वर्ष के थे। मदाम दु शात्ले उनसे ग्यारह साल छोटी थीं। वे देखने में सुन्दर नहीं थीं, परन्तु बहुत विदुषी थीं। पन्द्रह वर्ष बाद उनकी मृत्यु होने तक वाल्टेयर के साथ उनका भावनात्मक सम्बंध बना रहा। उन दोनों ने साथ-साथ नक्षत्र-विज्ञान, यान्त्रिक प्रगति, रसायन तथा इतिहास का अध्ययन किया। वे काफ़ी लड़ते-झगड़ते, फिर सुलह करके काम में जुट जाते और फिर झगड़ पड़ते। अपने यहाँ आने वालों का मनोरंजन वे लोग नए-नए नाटक लिखकर और खेलकर करते। वाल्टेयर के लिए यह समय उनकी प्रतिभा के चरम विकास का समय था।

१७३६ में प्रशिया के शहजादे ने वाल्टेयर को एक प्रशंसा-भरा पत्र लिखा। चार साल बाद राज-पद संभालने पर उसने उन्हें सम्मानित करने के लिए बुलाया, लेकिन मदाम ने फ्रांस से बाहर जाने से इन्कार कर दिया। वे चाहती थीं कि पहले वाल्टेयर को अपने देश में विशिष्ट सम्मान प्राप्त करके ही कहीं बाहर जाना चाहिए। १७४६ में मदाम के प्रयत्नों से वे फ़्रांस की अकादेमी के सदस्य चुने गए। इस बार लौरेन के राजा स्तेनिस्लास ने उन्हें अपने दरबार में बुलाया, तो मदाम ने राजकीय निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ राजभवन के जीवन में जाकर वे उस मादक वातावरण में अपने को भूल-सी गयीं। एक अन्य युवक के प्रति उनका आकर्षण देखकर वाल्टेयर का हृदय क्षुब्ध हो उठा। वे अकेले मदाम के सीरे स्थित भवन में लौट आये। कुछ दिनों बाद सूचना मिली कि प्रसव में मदाम की मृत्यु हो गयी। वाल्टेयर उस शोक से जीवन-भर उभर नहीं सके।

सीरे छोड़ने के बाद उन्होंने प्रशिया के सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय के यहाँ आश्रय लिया। अब मदाम तो उन्हें वहाँ जाने से रोकने के लिए थीं नहीं। परन्तु वहाँ रहते शीघ्र ही उनका मन घबराने लगा।

राजा आखिर राजा होता है---वह कितना ही दार्शनिक क्यों न हो। वे वहाँ से स्विट्जरलैण्ड चले गए। लेकिन वहाँ भी वही पेरिस-जैसी कट्टरता थी, और वैसे ही अंध-विश्वास। वे दोनों जगह घर लेकर कभी यहाँ से वहाँ जाते और कभी वहाँ से यहाँ। आखिर साठ साल की उम्र में उन्होंने जेनीवा के निकट फेरने गाँव में अपना निश्चित ठिकाना बना लिया। वहाँ उन्होंने शिल्प, उद्योग तथा कृषि, सभी में रुचि लेना आरम्भ किया। घर बनाये, घोड़े पाले, घड़ियों की फ़ैक्टरी लगायी। जो-जो काम किया, उसी का छाया उनके साहित्य में भी उतर आयी। नए-नए संदर्भ, नए-नए चरित्र। वाल्टेयर ने अब सब तरह के विषयों पर खुलकर लिखना आरम्भ किया। इतना अधिक लिखा कि अपने समय के सबसे बड़े पत्रकार माने जाने लगे। परन्तु अधिक लिखने के साथ-साथ अपनी सबसे अच्छी रचना 'कान्दीद' भी उन्होंने इसी अवधि में पूरी की।

यह समय उनके लिए सुख और शान्ति का था। पहले वर्षों के तूफ़ानी जीवन के बाद वे निश्चिन्त मन से अपना काम कर पा रहे थे। उनकी ख्याति बढ़ गयी थी कि दूर-दूर से लोग उनसे मिलने फेरने गाँव में आते थे। राजा फ्रेडरिक ने अब फिर उनसे मित्रता कर ली थी। फ्रांस में भी शत्रुता नहीं रही थी। वाल्टेयर तिरासी साल के थे जब उन्होंने अपना दुःखान्त नाटक 'त्रेन' पूरा किया। उसका अभिनय पेरिस में होने को था। उन्होंने निश्चय किया कि इस अवसर पर वे पेरिस अवश्य जायेंगे।

वह पूरी यात्रा एक उत्सव की तरह थी। रास्ते में सब जगह उनका स्वागत हुआ, उन्हें अभिनन्दित किया गया। नाटक की रात को अभिनय के बाद अभिनेताओं ने उन्हें फूल-मालाओं से लाद दिया। दर्शकों ने लगातार तालियाँ बजाकर अपनी भावना का परिचय दिया। परन्तु नाटक की इतनी बड़ी सफलता एक विराम-चिह्न की तरह थी। अभिनय के कुछ ही दिनों बाद असह्य शारीरिक पीड़ाओं के बीच उन्होंने प्राण त्याग दिए। वह ३० मई, १७७८ का दिन था। असंख्य दर्शनार्थी उन्हें घेरे हुए थे। मरते समय जो अंतिम शब्द उनके मुँह से निकले, वे थे : "मुझे

शान्ति से मरने के लिए छोड़ दो !" यह कामना उस व्यक्ति की थी जिसका पूरा जीवन ही एक हलचल रहा था और जो दूसरों के जीवन में निरन्तर हलचल पैदा करना चाहता रहा था। यह हलचल उसकी मृत्यु के बाद भी उसके विचारों से पैदा होती रही। साहित्य-क्षेत्र में उन-जैसा ज्वालामुखी के समान व्यक्तित्व बहुत कम लोगों का रहा है। आज भी उस ज्वालामुखी की चिनगारियाँ नए-नए विचारकों को नयी दिशाओं में सोचने के लिए प्रेरित करती रहती हैं।

वर्तमान : सीधे साक्षात्कार
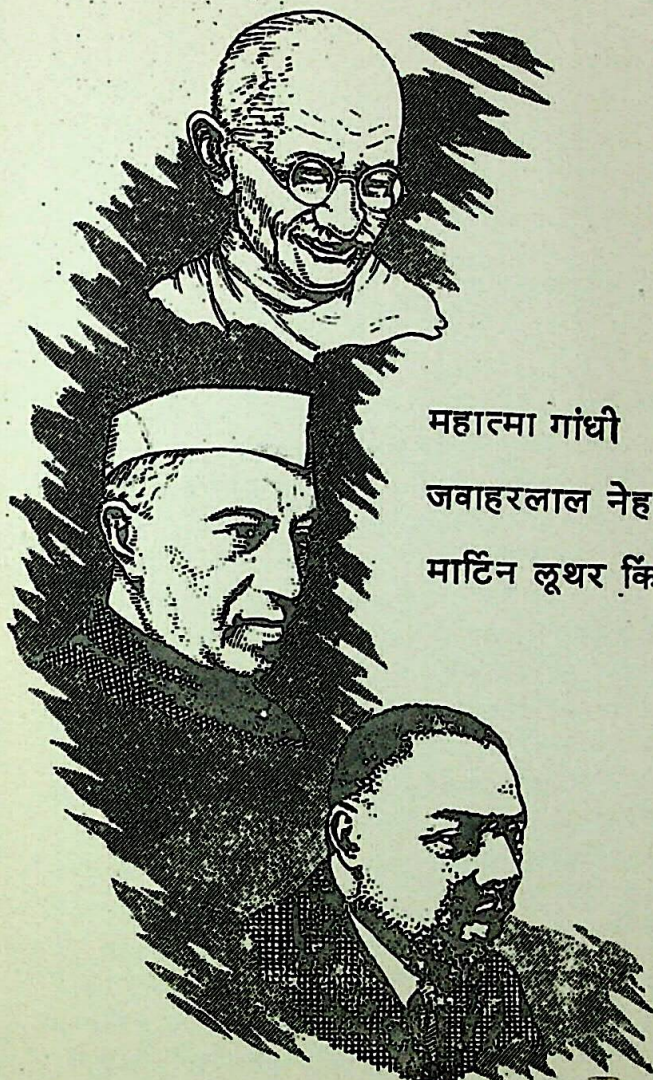
महात्मा गांधी

भगतसिंह तथा अन्य क्रांतिकारियों का स्वप्न पूरा करने वाले महात्मा गांधी, जिन्हें सब लोग प्यार से 'बापू' कहते थे, एक विलक्षण व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे अकेले ही जैसे अपने समय की राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक थे। वे अपनी जनता को अच्छी तरह समझते थे— उसकी शक्ति को भी, कमज़ोरियों को भी। जनता के साथ अपने सीधे साक्षात्कार के कारण ही वे अपने को उसकी भावना के साथ एकाकार कर सके, उन भावनाओं को अपनी ओर से एक दिशा दे सके। अहिंसा तथा सत्याग्रह के मार्ग से उन्होंने वह कीर्य कर दिखलाया जो तोड़-फोड़ के मार्ग से शायद कितने ही वर्षों तक सम्भव न हो पाता। यह उन्हीं के नेतृत्व का परिणाम था कि अंग्रेज़ सन् १९४७ में भारत छोड़कर चले गये। उनके कार्यों तथा सिद्धांतों ने भारतको ही नहीं, सारे संसार के पराधीन देशों को एक नयी राजनीतिक चेतना दे दी। कुछ ही वर्षों में एशिया और अफ्रीका के प्रायः सभी ऐसे देशों में स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन उठे और देखते-देखते संसार का भूगोल ही दूसरा हो गया।

महात्मा गांधी का वास्तविक नाम था मोहन दास। २ अक्तूबर, १८६९ को इनका जन्म गुजरात के एक गाँव पोरबन्दर में हुआ। पिता कर्मचन्द गांधी राजकोट रियासत के दीवान थे। परिवार धार्मिक था। माँ अपना अधिकांश समय पूजा-पाठ में बिताती थीं। इन पर वैष्णव भक्ति

की छाप इनकी माँ की ही देन थी। पूर्ण निष्ठा के साथ कार्य करना तथा दूसरों के दुःख से दुःखी होना, ये संस्कार भी इन्हें अपने परिवार से ही मिले थे। परंतु जिन बातों में इन्हें रूढ़िवादिता या अंधविश्वास नज़र आता, उनके विषय में ये अपने परिवार से अलग हटकर भी सोचते थे। सचाई का आग्रह, यह इनके स्वभाव में ही था। अपनी जीवनी में एक जगह उन्होंने लिखा है कि एक बार भाई का ऋण चुकाने के लिए इन्होंने घर से एक तोला सोना चुरा लिया था। बाद में मन में इतना परिताप हुआ कि स्वयं अपराध स्वीकार किये बिना इन्हें शांति नहीं मिली। अपने हर आचरण का निरीक्षण करना तथा हर ऐसी चीज़ से बचना जो झूठ और छल के मार्ग पर ले जाय, यह जैसे इनके अन्दर की एक विवशता ही थी।

अपने पाठ्य-विषयों के अतिरिक्त विशिष्ट व्यक्तियों की जीवनियाँ पढने में इनकी विशेष रुचि थी। उन जीवनियों से भी जो सार इन्हें प्राप्त हुआ, वह यही था कि दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानकर चलना ही जीवन की सही दिशा है। आस-पास के लोगों में आलस्य, प्रमाद और फूहड़पन देखकर इन्हें बहुत कष्ट होता। लगता की यह सब-कुछ गुलामी के कारण है। यदि किसी तरह लोगों को अपने प्रति सचेत किया जा सके, तो उन्हें गुलामी का जुआ उतार फेंकने के लिए भी तैयार किया जा सकता है।

आगे के जीवन के लिए इनकी मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करने में उस समय का भी विशेष हाथ है जब ये बार-एट-लॉ करने के लिए इंगलैंड गये। घर के लोगों से अलग होकर स्वतंत्र रूप से जीने का यह पहला अवसर था। नये जीवन के कई-कई प्रलोभन सामने थे। परंतु घर से चलते समय ये माँ को वचन देकर आये थे कि विदेश में रहते मांस और मदिरा छुएँगे भी नहीं। किसी बाहरी अनुशासन के स्थान पर अपने अंदर के अनुशासन को सबसे बड़ा मान कर चलना —इस परीक्षा में सफलता ने इन्हें वह नैतिक बल दिया जिसके कारण आगे चलकर वे कड़ी-से-कड़ी परीक्षाओं में अपने को डाल सके। कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में

भी इन्होंने अपना अनुशासन टूटने नहीं दिया। आगे चलकर एक बार जब इनके पुत्र मणिलाल काफ़ी बीमार हो गये, तो डॉक्टर के बहुत कहने पर भी ये उसे मांस का शोरबा देने को तैयार नहीं हुए। प्राकृतिक चिकित्सा से ही उसे स्वस्थ कर लिया। जीवन में कितनी ही बार ऐसे निर्णयों के अनुशासन में उन्होंने अपने को जकड़ा। जब एक बार गृहस्थ धर्म से हटकर ब्रह्मचर्य-पालन का संकल्प ले लिया, तो ऐसी सब चीजें खाना-पीना भी बन्द कर दिया जिनसे इस संकल्प में बाधा पड़ सकती थी। उससे पहले अफ्रीका में भैंस का दूध पीना छोड़ दिया था, क्योंकि ग्वाले को भैंस पर अत्याचार करते देख लिया था। फल इसलिए त्याग दिये थे कि साधारण हैसियत का औसत आदमी फल खरीदने की सामर्थ्य नहीं रखता था। ऐसे कितने ही निर्णय न जाने किन-किन बातों को ध्यान मे रखते हुए उन्होंने लिये जिनकी नैतिकता से प्रभावित होकर दूसरों ने भी उनका अनुसरण किया।

गांधीजी के सार्वजनिक जीवन की शुरुआत दक्षिण अफ्रीका में हुई। बार-एट-लॉ करने के बाद ये वहाँ एक फर्म की ओर से एक मुकद्दमे की पैरवी करने गये थे। वहाँ रहते इन्होने 'टॉलस्टॉय आश्रम' स्थापित किया। इसके सदस्यों में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई और पारसी सभी थे; मर्यादित जीवन की पद्धति सिखाना ही इस आश्रम का उद्देश्य था। वे इस आश्रम में लोगों को रहन-सहन और खान-पान के आडम्बर से मुक्त करने का प्रयत्न करते रहे और सिखाते रहे कि व्यक्ति के लिए सबसे बड़ी चीज़ है उसका स्वाभिमान।

बात प्रारम्भ हुई थी उनके अपने स्वाभिमान को लगी एक चोट से। मुकद्दमे की पैरवी के लिए वे ट्रांसवाल जा रहे थे। रात का समय था। वे एक फर्स्टक्लास के डब्बे में बैठे थे। गाड़ी रास्ते में एक प्लेटफार्म पर रुकी, तो एक अंग्रेज उस डब्बे में आ गया। इन्हें देखकर उसकी त्यौरी चढ़ गयी और उसने कहा, "तुम इस डब्बे में क्यों सवार हुए हो?" गांधीजी ने शान्तिपूर्वक उत्तर दे दिया कि उनके पास उस डब्बे का टिकट है। अंग्रेज इससे और उत्तेजित हो उठा और उसने स्टेशन मास्टर तथा पुलिस

की सहायता से उन्हें डब्बे से उतार दिया। यह अपमान उनके लिए इतना असह्य हो उठा कि उन्होंने अपना पूरा जीवन ही काले-गोरे का भेद-भाव मिटाने तथा गोराशाही के आतंक से लड़ने में लगा दिया। गांधीजी को गाड़ी से उतारने वाले उस व्यक्ति ने सोचा भी नहीं होगा कि इस छोटी-सी घटना के बदले में कुछ समय बाद ब्रिटिश साम्राज्य को भारत तथा अन्य कई देशों से अपना दामन समेट लेना होगा।

काली चमड़ी के लोगों के साथ दक्षिण अफ्रीका में जो बर्ताव किया जाता था, उसके कई और उदाहरण प्रत्यक्ष रूप से इनके सामने आये। गाड़ी के डब्बों में ही नहीं, कई-कई बाज़ारों और इलाकों में उनका प्रवेश वर्जित था। वे वहाँ ज़मीन नहीं खरीद सकते थे; जिन फुटपाथों पर गोरे लोग चलते थे, उन फुटपाथों पर नहीं चल सकते थे। यहाँ तक कि वहाँ मजदूरी करने के लिए भी उन्हें टैक्स अदा करना पड़ता था।

और अदालत में पेश होने पर मजिस्ट्रेट की ओर से आदेश मिला कि वे सिर से पगड़ी उतार दें। गांधीजी के अन्दर एक शोला भड़क उठा। उन्होंने वहाँ के पत्रों में इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई जिससे वहाँ रहने वाले भारतीय अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए; आगे के संघर्ष की भूमिका तैयार होने लगी।

आंदोलन एक बार आरम्भ हुआ, तो सभी भारतीय गांधीजी के नेतृत्व में सरकार की नीतियों से लड़ने को तैयार हो गये। नेटाल की विधान-सभा द्वारा भारतीयों से विधान-सभा की सदस्यता का अधिकार छीन लिया गया, तो आन्दोलन की गति और तीव्र हो गयी। संगठन ने 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' का रूप ले लिया। गांधीजी की व्यक्तिगत नैतिकता अब एक सार्वजनिक नैतिकता में बदल गयी थी। अपने अधिकारों के लिए लड़ो, परंतु हिंसात्मक नीति अपनाकर नहीं। युद्ध और विपत्ति में अपने नागरिक कर्तव्य का पालन करो, आवश्यकता पड़ने पर सरकार को सहयोग भी दो—क्योंकि अधिकारों का दावा वही कर सकता है जो अपने कर्तव्यों का पालन करे। परंतु अधिकारों की रक्षा के लिए अपना सब-कुछ बलिदान करने के लिए तैयार रहो। कानून अधिकारों को

कुचलता है, तो उससे लड़ो। जाति-भेद आड़े आता है, तो उसे उखाड़ने का प्रयत्न करो। किसी भी स्थिति में अपनी नैतिकता—सत्य के आग्रह को—डिगने मत दो। इस तरह राजनीतिक लड़ाई लड़ने के मंत्र 'सत्याग्रह' का आविष्कार हुआ। शक्तिशाली से लड़ने का हथियार शक्ति नहीं—सत्याग्रह है।

एक बार भारत आकर गांधीजी फिर अफ्रीका चले गए। वहाँ के संघर्षों में उनका व्यक्तित्व घुलता-निखरता रहा। पहला महायुद्ध आरम्भ होने पर वे कुछ समय के लिए इंगलैंड गये। वहाँ भारतीय नागरिकों के एक 'एंब्यूलेंस यूनिट' का संगठन किया, परन्तु अस्वस्थ हो जाने से स्वयं उन्हें भारत चले आना पड़ा। यहाँ श्री गोखले ने अपनी मृत्यु से पहले उनसे कुछ समय भारत में रहकर कार्य करने का वचन ले लिया। गांधीजी ने देश-भर में घूमकर यहाँ की स्थिति का अध्ययन किया। अहमदाबाद के पास आश्रम की स्थापना की तथा लोगों को सादगी एवं बलिदान की भावना से जीने का संदेश दिया। आश्रम में अछूतों को प्रवेश देकर उन्होंने अपने कई पुरातनपंथी समर्थकों को नाराज़ भी कर लिया। यहाँ भी अपनी वही नैतिकता उनके साथ थी। यदि वे काले-गोरे का भेद स्वीकार नहीं करते, तो छूत-अछूत कैसे मान्यता दे सकते हैं।

अहमदाबाद में मिल-मालिकों और मजदूरों के एक झगड़े को लेकर उन्होंने पहला अनशन किया। उनकी जो जीवन-दृष्टि और कार्य-पद्धति अफ्रीका में रहते निर्धारित हो चुकी थी, वह अब और स्पष्ट रूप ग्रहण करने लगी। गुलामी की जंजीरें यहाँ भी वैसी ही थीं। सरकार की तानाशाही का वैसा ही पग-पग पर विरोध करने की आवश्यकता थी। खेड़ा के अकाल-ग्रस्त किसानों को यह निर्देश देने के साथ कि वे लगान अदा न करें, चाहे इसके लिए उन्हें जेल जाना पड़े, उन्होंने देशवासियों को सरकार से टक्कर लेने का नया रास्ता दिखला दिया। दंड झेलो, परन्तु हिंसा पर न उतरो। अन्याय से लड़ो, परन्तु तलवार से नहीं, अपने शान्त व्यक्तित्व से। कायर वह है जो लाठी-बंदूक को देखकर भाग खड़ा होता है। जो उनके सामने निश्चल खड़ा रहता है, उसकी शक्ति जैसी कोई

शक्ति नहीं।

स्वाभिमान की एक शर्त है—स्वावलम्बी होना। देश पराधीन था, क्योंकि अपनी हर आवश्यकता के लिए विदेशों का मुँह ताकता था। आवश्यकता थी इस निर्भरता से छुटकारा पाने की। गांधीजी ने दिशा बतलायी--बहिष्कार करो, अंग्रेजों द्वारा लायी गयी सब सुविधाओं का, सब संस्थाओं का; आयात से आये सब कपड़ों तथा अन्य साधनों का; उनकी शिक्षा-पद्धति का; उद्योगों का। जगह-जगह विदेशी माल की होली जलने लगी। उन्होंने कहा, स्वयं बुनो, स्वयं पहनो। इस तरह खादी-आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसे बहुतों ने अपनी जीवन-पद्धति के रूप में अपना लिया। 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—तिलक की यह वाणी सारे देश की वाणी बन गयी।

परन्तु जनता उत्तेजना की भाषा जानती थी, संयम की नहीं। कई बार वह आपे से बाहर होने लगती तो उसे सही दिशा पर लाने के लिए उन्हें कठिन व्रत करना पड़ता। १९२२ के सत्याग्रह में बारदोली की जनता ने चौराचौरी गाँव में सरकारी सिपाहियों को ज़िन्दा जला दिया। लोगों के इस आचरण से क्षुब्ध होकर प्रायश्चित-स्वरूप उन्होंने उपवास आरम्भ कर दिया। परन्तु यह उपवास अभी पाँच दिन ही चला था कि उन्हें जेल में डाल दिया गया।

१९२४ में जिन दिनों वे जेल में थे, सरकार ने अपनी विभाजक नीति से हिन्दू-मुस्लिम दंगों को बढ़ावा दिया; साम्प्रदायिक मतभेद को बढ़ावा दिया। साम्प्रदायिक दंगों के समाचारों ने गांधीजी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डाला। जेल से उन्हें समय से पूर्व छुट्टी मिल गयी। बाहर आकर उन्होंने इक्कीस दिन के उपवास की घोषणा कर दी। साम्प्रदायिक स्थिति सँभल गयी : अगले कांग्रेस-अधिवेशन में गांधीजी को अध्यक्ष चुन लिया गया। इसके बाद उन्होंने अछूतोद्धार के सम्बन्ध में विशेष कार्य आरम्भ किया। हरिजन बिल पास हुआ, परन्तु रूढ़िवादी हिन्दुओं ने अछूतों को मन्दिरों में नहीं आने दिया। गांधीजी को फिर एक बार इक्कीस-दिवसीय उपवास करना पड़ा।

उनके संघर्ष की कई दिशाएँ थीं। एक ओर वे भगतसिंह तथा उनके साथी क्रान्तिकारियों की विध्वंस-नीति से सहमत नहीं थे; दूसरी ओर जनता के संस्कार और अन्ध-विश्वास थे; तीसरी ओर साम्प्रदायिक राजनीति थीं; और चौथी ओर थी वह बर्बर शक्ति जिससे उन्हें देश को मुक्ति दिलानी थी। इन सब स्थितियों से उन्हें एक-एक करके नहीं, एक साथ लड़ना था। एक ओर सैंडर्स की हत्या का विरोध, दूसरी ओर नमक कानून तोड़ने के लिए सत्याग्रह। बहुत-से लोग थे जिन्हें इन सबमें एक विरोधाभास लगता था। परन्तु गांधीजी जानते थे कि ये सब उनकी एक ही नैतिकता के अलग-अलग पक्ष हैं।

अंग्रेज सरकार उनके प्रभाव को देख रही थी; उनकी नीतियों के खतरे को पहचान रही थी। लन्दन में गोलमेज कॉन्फ्रेंस रखी गयी। गांधीजी लन्दन गये, लेकिन वार्ता असफल रही। उन्होंने फिर सत्याग्रह आरम्भ किया और फिर जेल में डाल दिए गए। सरकार ने अब अछूतों और सवर्ण हिन्दुओं में फूट डलवाने की नीति अपनायी। उसने अछूतों को अलग प्रतिनिधित्व देने की योजना बना ली। गांधीजी को पता चला, तो उन्होंने जेल में ही उपवास करना आरम्भ कर दिया। व्रत तोड़ा तब, जब सरकार ने पूना-पैक्ट कर लिया और अलग प्रतिनिधित्व की बात वापस ले ली।

देश के राजनीतिक संघर्ष को एक नया रूप मिला। १९३७ में, जब नये 'प्रान्तीय स्वतन्त्रता एक्ट' के अन्तर्गत गांधीजी ने कांग्रेस को चुनाव लड़ने का परामर्श दिया। तब तक वे कांग्रेस की सदस्यता से त्यागपत्र दे चुके थे, परन्तु इससे कांग्रेसी नेताओं की उन पर निर्भरता कम होने के स्थान पर और बढ़ गयी थी। कई प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमण्डल बन गये। परन्तु दो ही वर्ष बाद दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने पर फिर गांधीजी के परामर्श से इन सब मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। कारण कि ब्रिटिश सरकार ने भारत को युद्ध में झोंकने से पहले यहाँ के नेताओं से राय तक लेना आवश्यक नहीं समझा।

और इसके बाद कुल आठ वर्षों में नक्शा बिल्कुल पलट गया। ये

आठ वर्ष भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के सबसे कठिन और निर्णायक वर्ष थे। क्रिप्स मिशन आया और असफल रहा। 'भारत छोड़ो' आंदोलन आरम्भ हुआ और गांधीजी तथा अन्य नेता फिर बंदी बना लिए गए। लेकिन जनता अब इस तरह जाग गयी थी कि किसी भी मूल्य पर उसे स्वतंत्रता प्राप्त करनी ही थी। ब्रिटिश सरकार ने जनता के आवेश को पहचाना और मई, १९४४ में नेताओं को रिहा कर दिया। उसके साथ ही साम्प्रदायिक विषमता को इस तरह बढ़ावा दिया कि अंत में जब देश को स्वतंत्रता मिली, तो उसे दो टुकड़ों में बाँट दिया गया।

देश स्वतंत्र हो गया, परंतु बँटवारे का दुःख गांधीजी के मन को बुरी तरह सालता रहा। वे अब भी प्रयत्न करते रहे कि दोनों देशों में आपसी सद्भाव बना रहे और इन प्रयत्नों का मूल्य चुकाना पड़ा उन्हें अपना जीवन देकर। उनके दृष्टिकोण को मुसलमानों का पक्षपात मानते हुए नाथूराम गोडसे ने ३० जनवरी, १९४८ को बिड़ला-भवन, दिल्ली की प्रार्थना-सभा में उन्हें गोली मार दी।

उनके निधन पर बर्नार्ड शॉ ने कहा, "इससे सिद्ध होता है कि बहुत अच्छा होना कितना खतरनाक होता है!"

जवाहरलाल नेहरू

अपनी जीवनी में एक स्थान पर पंडित नेहरू ने अपने सम्बन्ध में लिखा है: "मैं अपने को पूरब और पच्छिम का एक विचित्र मिश्रण पाता हूँ, सब जगह बेगाना और कहीं भी अपना-सा नहीं। शायद मेरे विचार और सोचने का ढंग पूरबी की अपेक्षा उस दृष्टिकोण के अधिक निकट है जिसे पच्छिमी कहा जाता है। परन्तु भारत अपने सब बच्चों की तरह मुझे भी कई तरह से अपने से जोड़े है। मैं न अपनी अतीत की विरासत से मुक्त हो सकता हूँ, और न ही अपनी आज की प्राप्तियों से। वे दोनों ही मेरा भाग हैं, और यद्यपि इनसे पूरब और पच्छिम दोनों में मुझे सहायता मिलती है, फिर भी, साथ ही इनसे मेरे अन्दर एक आध्यात्मिक अकेलेपन की अनुभूति भी भरी रहती है। यह अनुभूति मुझे जन-कार्यों में ही नहीं, स्वयं जीवन में होती है। पच्छिम के लिए मैं बेगाना और अजनबी हूँ; उसका भाग मैं नहीं बन सकता। परन्तु अपने देश में भी कभी-कभी मुझे एक निर्वासित की-सी अनुभूति होती है।"

उनके व्यक्तित्व का इतना अच्छा विश्लेषण दूसरा कोई व्यक्ति शायद ही कर पाता। आश्चर्य हो सकता है कि वह व्यक्ति, जिसे पूरे राष्ट्र का समर्थन प्राप्त था, जिसके मुंह से निकले शब्द सुनने के लिए लोग लाखों की संख्या में उमड़ पड़ते थे, जो वर्षों तक इस देश की ही नहीं, पूरे संसार की राजनीतिक हलचलों का मुखिया रहा, जिसके जीवनकाल में

सारे संसार के लोग अपने से एक ही सवाल पूछते रहे कि 'नेहरू के बाद भारत का क्या होगा ?', और जिसे बहुत चाहकर भी अकेले में रहने या सोचने का समय बड़ी मुश्किल से ही कभी मिल पाता था, वह अपने को अकेला और निर्वासित-सा क्यों महसूस करता था ? कारण छोटा-सा है। वह व्यक्ति पूरबी और पच्छिमी दो ध्रुवों के बीच एक कड़ी की तरह था, उन दोनों के बीच की खाई को पाट सकने का महान् प्रयत्न जिसका उद्देश्य था। इस उद्देश्य में अकेला वह भले ही न हो, अपने प्रयत्न में अकेला वह अवश्य था।

पण्डित नेहरू का जन्म १४ नवम्बर, १८८९ को इलाहाबाद के विख्यात नेहरू-परिवार में हुआ। इनके पूर्वज बहुत पहले कश्मीर छोड़ कर इलाहाबाद में आ बसे थे। इनके पिता पण्डित मोतीलाल नेहरू बहुत प्रसिद्ध वकील थे। इस परिवार के राजसी ठाठ-बाट की कई कहानियाँ यहाँ-वहाँ सुनी जाती थीं। जवाहरलाल उसी ठाट-बाट में बड़े हुए। सब तरह की सुख-सुविधा के साथ शिक्षा भी बहुत अच्छी मिली। शिक्षक ब्रुक घर पर पढ़ाने आता था। पढ़ाई के बाद ये या तो घुड़सवारी पर निकल जाते, या माँ और चाचियों से किस्से-कहानियाँ सुनने का चाव पूरा करते। इस तरह उन दिनों से इन्हें दो तरह के संस्कार प्राप्त होने लगे—पाश्चात्य भी और भारतीय भी। बचपन में सुने किस्से-कहानियों में एक ओर रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाएँ थीं और दूसरी ओर १८५७ के सिपाही विद्रोह तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विभिन्न कारनामों की कहानियाँ। दस साल की उम्र से ही इन्हें समाचार-पत्र पढ़ने का गहरा शौक हो गया। इसके साथ ही विश्व के राजनीतिज्ञों तथा अन्य महान् व्यक्तियों की जीवनियाँ पढ़ने में रुचि हुई, साथ ही विज्ञान की ओर रुझान बढ़ा। घर में ही उन्होंने अपनी एक प्रयोगशाला बना ली। लेकिन आगे की शिक्षा के लिए—इंगलैंड के सुप्रसिद्ध विद्यालय हैरो में भेज दिये जाने से इस प्रयोगशाला का कार्य बीच में ही रह गया।

हैरो में अंग्रेज छात्रों के बीच रहकर इनकी राजनीतिक चेतना और

तीव्र होने लगी। ये उप देश की परिस्थितियों की तुलना अपने देश से करते, तो मन उदास होने लगता। देश में उन दिनों जो कुछ हो रहा था, उसके समाचार उन्हें मिलते रहते थे। गोखले, तिलक तथा विपिनचन्द्र-पाल के विचार उन तक पहुंचते रहते थे; सोचने लगते थे कि क्या तरीका हो सकता है जिससे वे भी अपने देश के संघर्ष में भाग ले सकें।

हैरो से केम्ब्रिज परीक्षा पास करके वे ट्रिनिटी कालेज में आ गये। उन्हीं दिनों गोखले, विपिनचन्द्रपाल तथा लाला लाजपतराय के केम्ब्रिज में आने की सूचना मिली, तो ये उनसे मिले। उसके बाद बार-एट्-ला करने तक वे मन में भारत लौटने के बाद देश के लिए कार्य करने की योजनाएँ बनाते रहे। उनके पिता पण्डित मोतीलाल नेहरू भी अब राजनीतिक क्षेत्र में उतर आये थे। परीक्षा के बादभारत आते ही ये भी उस कार्य में जुट गये। परन्तु अपने पिता तथा अन्य नेताओं की नम्र नीति इनके मन को स्वीकारनहींथी। ये चाहते थे कि एक ऐसी उग्र नीति जोपूरे देश की सोयी चेतना को एकाएक जगा दे।

चल रही राजनीति में मन नहीं खपा, तो सोचा वकालत में रुचि लें। वह भी नहीं हुआ, तो शिकार में मन लगाया। पर्वत, घाटियाँ, जंगल—उनका अपना आकर्षण था, फिर भी मन अन्दर से अस्थिर रहता था। एक बार एक हिरणी को निशाना बनाने पर उसका बच्चा इनकी गोली से मर गया, तो इन्हें अपने से बहुत ग्लानि हुई। लगा, उस शावक की आँखें कह रही हैं, 'बस, यही तुम्हारी बहादुरी है?' और उस ग्लानि ने एक आवेश का रूप ले लिया जब पहला महायुद्ध छिड़ जाने से चारों ओर वही हत्या-काण्ड होने लगा।

एकबार वे फिर विदेश जाकर लौटे, तो कांग्रेस के बाँकीपुर-अधिवेशन में एक डेलीगेट के रूप में सम्मिलित हो गये। उसके बाद १९१५ में इलाहाबाद में प्रेस-कानून में विरोधी सभा में भाग लिया। उस सभा में उनके भाषण के बाद डॉ० तेजबहादुर सप्रू ने उन्हें गले लगा लिया। उसके बाद परिचय हुआ गांधीजी से जोकि शीघ्र ही घनिष्ठता और फिर आत्मीयता में बदल गया। आगे के सार्वजनिक जीवन की बुनियाद

पक्की हो गयी।

फिर विवाह हो गया। पत्नी कमला को साथ लेकर पर्वत-यात्रा पर निकल गये। कई दृष्टियों से वह यात्रा अविस्मरणीय थी। केवल वही एक अवसर था जब दोनों को सही माने में साथ-साथ गृहस्थ जीवन जीने का सुख मिल सका। उसके बाद तो कुछ निश्चित ही नहीं रहा कि कब घर में हैं, कब लाखों लोगों के बीच राजनीतिक अखाड़े में और कब जेल में। गांधीजी द्वारा चलाये गये असहयोग-आन्दोलन की सरगर्मी के बीच पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी का जन्म हुआ। कमला बहुत अस्वस्थ रहने लगीं। वे उन्हें मसूरी ले गये। वहाँ आये हुए कुछ अफ़गानिस्तानी नेताओं से उन्होंने मिलना चाहा, तो सरकार की ओर से मिलने की इजाजत नहीं दी गयी। उन्होंने अपना गुस्सा किसी तरह पी लिया और मसूरी से वापस चले आये। यह वापस आना एक तरह से पारिवारिक जीवन से सदा के लिए वापस आना हो गया। आते ही वे सार्वजनिक आन्दोलन में जूझ गये। कमला मसूरी में बीमार थी और ये ब्रिटिश सम्राट के भारत-आगमन पर अपने पिता के साथ मिलकर काले झण्डों का प्रदर्शन कर रहे थे। इसके लिए पिता-पुत्र दोनों को जेल हो गयी। जेल से निकलने पर कार्य और बढ़ गया। सरकारसे संघर्ष केसाथ-साथ कांग्रेस के संगठनकी भीकाफ़ी ज़िम्मेदारी इन पर आ पड़ी। कांग्रेस के मन्त्री के रूप में कार्य करते हुए दिन, महीने, साल इस तरह गुजरते गये कि पत्नी की शुश्रूषा के लिए कभी उसके पास बैठने का इन्हेंसमय ही नहीं मिल पाया। अपनी व्यस्तताओं से परे कुछ समय बीतता, तो केवल जेल के अन्दर। कमला प्राय: जेल में इनसे मिलने आतीं। इनके सामने मुस्कराती रहतीं, लेकिन परे आकर उनका मन टूटने लगता। जवाहरलाल सोचते कि शीघ्र ही देश स्वतंत्र हो जायेगा, तो वे कमला के साथ 'अपना' जीवन जी सकेंगे; कमला भी तब तक शायद स्वस्थ हो जायेगी। परन्तु कमला का स्वास्थ्य अधिक बिगड़ जाने से डॉक्टरों ने उसे स्विट्ज़रलैंड ले जाने का सुझाव दिया। ये कमला को स्विट्ज़रलैंड ले गये। वहाँ इनका इलाज होने लगा। उन दिनों इन्होंने यूरोप में घूमकर वहाँ के

राजनीतिक जीवन में हुए परिवर्तन का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया।

वहाँ से ये उन दिनों भारत लौटे जब साइमन-कमीशन आया हुआ था। स्थान-स्थान पर प्रदर्शन हो रहे थे। उन दिनों जनता के साथ इन्होंने पुलिस की लाठियाँ झेलीं। १९३० के सत्याग्रह-आंदोलन में पूरा नेहरू परिवार जूझ गया। माता स्वरूपरानी ने भी विदेशी माल की दुकानों पर धरना दिया। उधर कमला की हालत फिर शोचनीय हो रही थी। जवाहरलाल उन्हें फिर स्विट्जरलैंड ले गये, परन्तु इस बार कमला की प्राण-रक्षा नहीं हो सकी। जिस एक के साथ वे अपने अंदरूनी अकेलेपन को बांटने की कल्पना करते थे, वह भी उन्हें छोड़कर चली गयी।

१९३५ का प्रांतीय स्वशासन आंदोलन। फिर प्रांतीय स्वशासन एक्ट के अंतर्गत चुनाव। कई प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें। दूसरा महायुद्ध। कांग्रेसी सरकारों के त्यागपत्र। साम्राज्यशाही से नई टक्कर। १९४२ का 'भारत छोड़ो' आंदोलन। चार साल जेल की सजा। और अन्त में १४ अगस्त, १९४७ तथा १५ अगस्त के बीच की मध्य रात्रि! राजकुमारी अमृतकौर ने उनके माथे पर रोली लगायी और स्वतंत्र भारत के पहले प्रधान-मंत्री का कार्य-भार उन्होंने संभाल लिया। एक ओर जनता की उमंग थीं और दूसरी ओर विभाजन के कारण हुए साम्प्रदायिक दंगों के बीच से उठता हाहाकार। वे जानते थे कि उनका उत्तरदायित्व कितना गम्भीर है। देश की सारी समस्याएँ अब जैसे उनकी निजी समस्याएँ बन गयी थीं। सबसे बड़ी समस्या करोड़ों विस्थापितों को फिर से बसाने की थी। इसके अतिरिक्त शीघ्र-से-शीघ्र देश को आर्थिक रूप से समृद्ध बनाना था, औद्योगिक क्षेत्र में आगे ले जाना था। संसार के अन्य देशों के साथ एक नये आत्म-सम्मानपूर्ण ढंग से संबंध स्थापित करने थे। बड़े देशों के दबावों से अपने को बचाते हुए एक सशक्त विदेश-नीति लेकर चलना था। अब तक उनके लिए जीवन एक युद्ध-क्षेत्र था। अब उसे एक व्यवस्था के सांचे में ढालना था।

और यह व्यवस्था लाने-लाने में ही अगले अठारह वर्ष निकल गये। बहुत-सी समस्याएँ सुलझीं, परंतु संसार की अस्थिर राजनीतिक

परिस्थितियों के कारण कई नई समस्याएँ पैदा होती गयीं। वे उन समस्याओं से लड़ते रहे और देश को समुन्नत देशों के समानांतर ला सकने के लिए जी-जान से प्रयत्न करते रहे। बाधाएँ बहुत-सी थीं। विस्थापितों की बहुत बड़ी संख्या के अतिरिक्त अंग्रेज न जाने कितनी तरह की और गुंझलें छोड़ गये थे। देशभर में कितनी ही स्वतंत्र रियासतें थीं जो देश की एकता में बाधक थीं। उनमें से हैदराबाद को पुलिस की कार्यवाही से अधिकार में लेना पड़ा; कश्मीर को लेकर पाकिस्तान से झगड़ा उठ खड़ा हुआ। पाकिस्तान ने कबाइलियों से वहाँ आक्रमण करा दिया जिससे देश की बहुत-सी साधन-शक्ति उस सीमा की रक्षा में खर्च होने लगी। इसके अतिरिक्त कई अंदरूनी समस्याएँ भी सामने आयीं। इनमें से एक मुख्य समस्या थी विभिन्न प्रदेशों के पुनर्गठन की। उन्होंने इस समस्या को हल किया, और सब समस्याओं को हल करने की भी युक्तियाँ निकालीं। इस सबके बीच औद्योगिक विकास पर बल दिया, पंचवर्षीय योजनाएँ बनायीं। संसार के सभी परस्पर-विरोधी देशों से मैत्री-पूर्ण संबंध स्थापित करके तटस्थता की विदेश-नीति का सफल प्रयोग किया। यह प्रयोग संसार की राजनीति को एक बिलकुल नयी दिशा दे देता अगर चीन ने भारत पर आक्रमण न कर दिया होता।

यह आक्रमण एक ऐसा नैतिक आघात था जिसने उनके मन को बहुत दुःख पहुँचाया। कुछ ही वर्ष पहले 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा लगाने वाले देश से उन्हें ऐसी आशा हरगिज़ नहीं थी। परंतु इससे भी वे विचलित नहीं हुए और न ही किसी ग़लत समझौते की दिशा में उन्होंने कदम बढ़ाया। उनके विरोधी उनकी कटु आलोचना करते रहे, परंतु उन्होंने किसी भी बड़े देश के सैनिक संगठन में साझीदार होना स्वीकार नहीं किया। उनके अडिग निश्चय की प्रशंसा लोग तभी कर सके जब चीनी सेनाएँ देश की सीमा से वापस चली गयीं।

और २७ मई, १९६४ का धूल-भरा दिन। दोपहर के समय लोगों ने सुना—नेहरू नहीं रहे। जो जहाँ था, वह वहीं कुछ देर के लिए सुन्न हो रहा। एक बार तो सब लोगों के मन में यह गहरी आशंका समा गयी—

अब देश का क्या होगा ? परंतु वे अपने जीवन-काल में प्रजातंत्रीय पद्धति को इस तरह स्थिर कर गये थे कि थोड़ा समय बीतने के बाद ही यह आशंका मिट गयी।

नेहरू चले गये, परंतु उनका व्यक्तित्व उनके बाद भी देश का नेतृत्व करता रहा। आज भी देश की गृह-नीति हो या विदेश-नीति, उसका मूल्यांकन करने में यही बात सबसे पहले सामने आती है—नेहरू होते तो क्या करते, नेहरू होते तो क्या कहते। उन्हें शरीर से विदा करके भी लोगों ने आज तक मन से विदा नहीं किया। और नेहरू भी तो अपनी अस्थियाँ और भस्म तक इस भीड़ के बीच बिखराने का आदेश दे गये। उनकी वसीयत थी कि उनके शरीर की मुट्ठी-भर राख ही इलाहाबाद के पास गंगा में बहायी जाय, शेष उन खेतों में बिखरा दी जाय जहाँ भारत के किसान मेहनत करते हैं, तथा उन उपजाऊ मैदानों में जहाँ काम करते उनकी ज़िन्दगी गुज़री थी।

नेहरू एक राजनीतिज्ञ तथा नेता ही नहीं एक दार्शनिक और विचारक भी थे। उनका दर्शन जीवन के साथ इस तरह जुड़ा है कि दोनों को अलग करके देखना भी कठिन है। उनके विचारों ने भारत के बाहर भी कितने ही देशों के नेताओं को प्रभावित किया। इनमें राष्ट्रपति टीटो, राष्ट्रपति नासिर तथा राष्ट्रपति कैनेडी के नाम लिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का एक और पक्ष था उनका कवि-हृदय। वे बहुत कोमल संवेदनाओं के व्यक्ति थे, इसलिए कई बार बहुत भावुकतापूर्ण कदम भी उठा जाते थे जिसके लिए उन्हें अपने विरोधियों से बहुत ताने सुनने पड़ते थे। उनके कवि-हृदय का एक प्रमाण उनकी वसीयत भी है जिसकी गणना अपने समय की श्रेष्ठ साहित्य-कृतियों में की जा सकती है।

अपने देहावसान के समय पंडित नेहरू लगभग ७५ वर्ष के थे, फिर भी उनकी सादगी और निश्छलता एक बच्चे-जैसी ही थी। यूँ जीवन-भर उन्हें बच्चों से बहुत लगाव भी रहा। उनका जन्मदिन ही बालदिवस के रूप में मनाया जाता था। आज भी जहाँ कहीं बच्चों का जमघट होता

है; उनका ज़िक्र अनायास ही बीच में आ जाता है।

और यही नेहरू, जीवन-भर आसपास की परिस्थितियों से सीधे जूझने वाले नेहरू, कहीं सचमुच बहुत अकेले भी थे। क्योंकि समय के जिस सोपान पर खड़े होकर वे जीवन का आस्वादन करते रहे, उस सोपान तक पहुँचकर उनके बराबर खड़ा होने वाला दूसरा कोई नहीं था।

मार्टिन लूथर किंग

३० जनवरी, १९४८ के दिन महात्मा गांधी को गोली लगने से संसार के जिन व्यक्तियों के हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया हुई, उनमें मार्टिन लूथर किंग भी एक थे। उस समय कुल उन्नीस वर्ष के थे और शायद इस सम्भावना से स्वयं भी परिचित नहीं थे कि कुछ ही वर्ष बाद वे भी उसी तरह अमेरीका-स्थित नीग्रो जाति का नेतृत्व कर रहे होंगे जैसे गांधीजी ने भारतीय जनता का किया था। गांधीजी की तरह उन्हें भी एक दिन गोली का शिकार होना पड़ेगा, यह बात तो उनके आस-पास भी किसी की कल्पना में नहीं रही होगी। परंतु समय गुजरने के साथ उनका मन सब तरह की सम्भावनाओं के लिए तैयार हो गया था। गोली लगने से काफ़ी पहले एक बार उन्होंने कहा था, "व्यक्ति की दीर्घजीविता से अधिक महत्त्व उसके जीवन की उपयोगिता का है। यदि एक ऐसे आंदोलन में आदमी की जान चली जाय जिसका उद्देश्य एक राष्ट्र की आत्मा की रक्षा करना हो, तो उससे अधिक मुक्तिदायी कोई चीज़ नहीं हो सकती।" और अपनी आकस्मिक मृत्यु से कुल दो ही दिन पहले उनके मुँह से ये शब्द निकले थे, "मैं नहीं जानता अब क्या होगा। आगे के दिन काफ़ी मुश्किल हैं। हर व्यक्ति की तरह मैं भी दीर्घजीवी होना चाहता हूँ। दीर्घजीवी होने का अपना एक स्थान है। परंतु इस समय मुझे उससे प्रयोजन नहीं है।"

कुल उनतालीस साल की उम्र में जिन्दगी से काट दिये जाना... यह भाग्य गांधी मत का अनुसरण करने के कारण उन्होंने स्वयं ही अपने लिए चुन लिया था।

मार्टिन लूथर किंग का जन्म १९२९ में एटलांटा नामक नगर में हुआ पिता और बाबा दोनों पादरी थे और दोनों ही नीग्रो जाति के अधिकारों के लिए लड़ते रहे थे। बचपन का नाम था माइकेल लूथर किंग। यही नाम पिता का भी था। परंतु बाद में पिता ने दोनों का नाम बदलकर मार्टिन कर दिया। कारण था सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध प्रांटेस्टेंट नेता मार्टिन लूथर के प्रति उनका आदर-भाव।

मार्टिन लूथर किंग जूनियर को शुरू से ही हिंसात्मक कार्यों से घृणा थी। उनकी आरम्भिक शिक्षा एटलांटा यूनिवर्सिटी के एक स्कूल में हुई। १९४१ में ये बुकरटी० वाशिंग्टन हाई स्कूल में दाखिल हुए। सितम्बर, १९४४से वे एक नीग्रो शिक्षा-संस्था मोरहाउस कॉलेज में चले गये। वहाँ से डिग्री लेने के बाद वे चेस्टर-स्थित क्रोजर थियोलॉजिकल सेमिनरी में प्रविष्ट हो गए। अध्यापकों की शुरू से ही उनके बारे में बहुत अच्छी राय थी। वे हमेशा अपनी क्लास के इने-गिने विद्यार्थियों में से माने जाते थे। परंतु शिक्षा-काल से उनके मन में काले-गोरे के भेद को लेकर बहुत असंतोष जागने लगा था। सेमिनरी में उन्होंने जी-तोड़ मेहनत से अध्ययन किया ताकि किसी भी तरह गोरे छात्रों से पीछे न रहें। अन्य दार्शनिकों के अतिरिक्त जिस व्यक्ति के विचारों का उन्होंने विशेष अध्ययन किया, वे थे महात्मा गांधी। इस संबंध में एक बार उन्होंने कहा था, "अहिंसात्मक प्रतिरोध की भावना मैंने बाइबल से सीखी है और उसे कार्यान्वित करने की रीति गांधी से।"

मार्टिन लूथर किंग के जीवन का इतिहास क्रोजर सेमिनरी में ही बनना शुरू हो गया था। वे सेमिनरी के सर्वश्रेष्ठ छात्र स्वीकार किए गए और वहाँ के छात्र-संगठन के पहले नीग्रो अध्यक्ष निर्वाचित हुए। १९५१ में वहाँ का अध्ययन पूरा करने के बाद 'प्लाफ्कर एवार्ड' तथा 'जे० क्रोजर फैलोशिप' प्राप्त हुआ। वे शोध-अनुसंधान के लिए बोस्टन यूनिवर्सिटी में

चले गये। वहीं उनका परिचय कॉरेंटा स्कॉट नाम की एक युवती से हुआ जिसने उनके जीवन में एक माधुर्य ला दिया। कॉरेटा स्वयं उन्हीं के-से विचारों की थीं। काफ़ी संघर्ष करते हुए वे अपनी शिक्षा पूरी कर रही थीं। काली चमड़ी के लोगों के प्रति गोरे लोगों के व्यवहार से उनका मन उसी तरह क्षुब्ध था। वे संगीत की शिक्षा ले रही थीं और बहुत अच्छी गायिका थीं। मार्टिन से मिलकर उन्हें लगा कि उन्हें सचमुच अपना मन-चाहा साथी मिल गया है। मार्टिन को भी आगे की जीवन-यात्रा के लिए ऐसी ही सहधर्मिणी की आवश्यकता थी। १८ जून, १९५३ को उन दोनों ने विवाह कर लिया।

दोनों की शिक्षा पूरी हो चुकी, तो मार्टिन लूथर किंग अपने आगे के जीवन की योजनाएँ बनाने लगे। पादरी का कार्य करने के साथ-साथ वे अब सक्रिय रूप से नीग्रो-अधिकारों के आंदोलन को बढ़ावा देना चाहते थे। अपनी जाति की दरिद्रता और साधनहीनता को मिटाने के साथ-साथ उन्हें उस हीनता की स्थिति से भी मुक्त करना था जो गोरे लोगों ने उस पर लाद रखी थी। डॉ० किंग को स्वयं कई बार अपने जीवन में गोरे लोगों के हाथों अपमान सहने पड़े थे। बचपनमें एक गोरी स्त्री के पाँवपर पाँव पड़ जाने से उन्हें चपत के साथ यह सुनना पड़ा था, "निगर होकर तुमने मेरे पाँव पर पाँव रखा है?" इसी तरह एक जूते की दुकान में इन्हें और इनके पिता को अगली बेंच से इसलिए उठ जाने को कहा गया कि ये गोरी चमड़ी के नहीं थे। और आस-पास नीग्रो लोगों को जो-जो यंत्रणाएँ दी जाती थीं और जिस तरह उन्हें कुचलने के लिए उन पर आक्रमण होते रहते थे, उन सबसे तो इनका परिचय था ही। इन्हें महसूस होता जैसे गोरे लोगों की आँखें जलती सलाखें हों जो ज़रा-सा मौका मिलते ही उन्हें झुलस देना चाहती हों।

और पति-पत्नी दोनों मिलकर इस स्थिति को बदलने की दिशा में काम करने लगे। डॉ० किंग तब केवल सत्ताईस वर्ष के थे जब उन्होंने एक ऐसे आन्दोलन का नेतृत्व किया जिसने उन्हें पद दलित नीग्रो जाति का प्रमुख नेता बना दिया। बात काले लोगों के साथ गोरे बस-ड्राइवरों के

अपमानजनक व्यवहार की थी। डॉ० किंग के कहने से ५०,००० नीग्रो बस-यात्रियों ने बसों का बहिष्कार करने का फैसला कर लिया। इसतरह पहली बार अमरीका में अहिंसात्मक आंदोलन की शुरुआत हो गयी। बात शुरू हुई थी एक नीग्रो महिला की थकान से, क्योंकि उसने ड्राइवर के आदेश से गोरे लोगों के लिए जगह खाली करने से इंकार कर दिया था। इस साधारण-सी घटना के जो परिणाम सामने आये, उन्होंने पूरे संसार की नज़रें अपनी ओर खींच लीं। डॉ० किंग का सुझाव भी साधारण-सा था— सोमवार से बसों में न चढ़ो। और देखा गया कि लोग खच्चरों पर अपने दफ्तरों को जा रहे हैं, बग्घियों में जा रहे हैं, मगर किसी बस-स्टाप पर कोई एक भी नीग्रो नहीं है। जिनके पास कारें या स्टेशन-वैगन थे, वे उनमें लोगों को भर कर ले जाने लगे। गिरजाघरों में चंदे होने लगे—यहाँ तक कि बाहर के देशों से भी सहायता के लिए धन आने लगा। मेयर गेल ने इस आंदोलन को तोड़ने के कई प्रयत्न किए। कुछ लोगों को फुसलाया। ग़लत अफ़वाहें फैलायीं कि डॉ० किंग और उनके साथी चंदे का पैसा खा रहे हैं। मगर उसकी कोई भी नीति कारगर न हुई। इस पर डॉ० किंग को तेज़ कार चलाने के अपराध में गिरफ्तार किया गया। अन्य कई लोगों पर अदालती कार्यवाही की गई। डॉ० किंग के पास धमकी-भरा पत्र भेजा गया। फोन पर उन्हें गंदी गालियाँ दी गयीं। उनके भाषण के स्थान पर बम फेंका गया और इस पर उनके नीग्रो साथी क्षुब्ध होकर मेयर गेल को कुचलने लगे, तो डॉ० किंग से ही सहायता माँगी गयी। डॉ० किंग ने अपने साथियों को शांत कर दिया। उसके बाद भी धमकियाँ चलती रहीं। उन पर कानून तोड़ने का मुक़द्दमा किया गया। मगर डॉ० किंग के विश्वास-भरे नेतृत्व के सामने मेयर गेल की कोई पेश नहीं चली। बस कंपनी के लिए अपना आर्थिक नुकसान झेलना असम्भव हो रहा था। आखिर नीग्रो-यात्रियों की मांगें स्वीकार कर ली गयीं।

उसके बाद डा० किंग अधिकारों की लड़ाई को बड़े पैमाने पर संगठित करने में लग गये। दक्षिण में नीग्रो वोटरों का पंजीकरण उनका मुख्य ध्येय बन गया। १९५७ में उन्होंने उप-प्रधान निक्सन से नीग्रो अधिकारों

के सम्बन्ध में बातचीत की। उसी वर्ष घाना के स्वतन्त्रता-उत्सव में भाग लेने के लिए उन्हें निमन्त्रित किया गया। वह यात्रा उनके मन पर एक अमिट छाप छोड़ गयी। काले लोगों की शक्ति पर उनका विश्वास और दृढ़ हो गया। एक पागल नीग्रो महिला ने छुरा घोंपकर उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया, तो मृत्यु के द्वार तक जाकर भी उन्होंने प्रतिशोध का मार्ग नहीं अपनाया। उस महिला को उन्होंने क्षमा कर दिया। उसके बाद पंडित नेहरू के निमन्त्रण पर वे भारत आकर उनसे मिले। उनके मन में यह निश्चय और पक्का हो गया कि अपने संघर्ष का जो रास्ता उन्होंने चुना है, वही वास्तव में सही रास्ता है।

बस-बहिष्कार के बाद एक और महत्वपूर्ण घटना हुई १९५९ में। आधी रात को मौंटगोमरी नगर के नीग्रो इलाकों में लगातार बमों के धमाके हुए। लोगों के मन में एक आतंक बैठ गया। परन्तु उसके थोड़े ही दिन बाद उत्तर कैरोलिना के औद्योगिक शहर ग्रीन्ज़बोरो में नीग्रो छात्रों ने एक विचित्र आन्दोलन आरम्भ कर दिया। एक डिपार्टमेंटल स्टोर के गोरे लोगों के लिए सुरक्षित काउण्टर पर वे चुपचाप जा बैठे और सारा दिन बैठे रहे। शीघ्र ही वह आन्दोलन और शहरों में भी फैल गया। उस दौरान कइयों को पीटा गया; उन पर थूका गया; जलते सिगरेट उन पर फेंके गयें। आग बुझाने की पाइपों से उन पर पानी डाला गया। १९६० के अन्त में विद्यार्थियों के साथ धरना देते हुए डॉ० किंग अन्य ५२ व्यक्तियों के साथ गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें ज्योर्जिया के जेल में बन्द किया गया। वे वहीं थे जब उन्हें सेनेटर जॉन एफ० कैनेडी की ओर से बुलावा मिला और उन्हें रिहा कर दिया गया। यह सेनेटर कैनेडी के साथ हुई उनकी बातचीत का ही परिणाम था कि निर्वाचन में सेनेटर को हजारों नीग्रो वोट प्राप्त हो गये और वे प्रधान चुन लिए गए। बद में प्रधान कैनेडी के प्राण भी इसलिए गए कि वे काले और गोरे के भेद को समाप्त करने के लिए कदम उठा रहे थे। मगर जो कुछ वे करना चाहते थे, उसे करने के रास्ते में भी कई तरह की बाधाएँ खड़ी हो रही थीं। नीग्रो जनता छोटे-छोटे सुधारों से सन्तुष्ट नहीं थी। सन् १९३० के बाद

के वर्षों में यह संघर्ष उत्तरोत्तर जोर पकड़ता गया। अप्रैल, १९६४ में उन्होंने एक बड़े सत्याग्रह का आयोजन किया। अधिकारी परेशान थे कि यह कैसी लड़ाई है कि लोग हँसते-खेलते गिरफ्तार होने चले आ रहे हैं। एक वर्ग डॉ० किंग की आलोचना करने वालों का भी था। लेकिन वे जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं। ७ मई के सामूहिक प्रदर्शन में ३,३०० अन्य लोगों के साथ डॉ० किंग फिर गिरफ्तार कर लिए गए। पुलिस ने निहत्थे लोगों पर जो अत्याचार किए, उनके कारण चारों ओर हल-चल मच गयी। कई गोरे लोग भी अब इस आन्दोलन में साथ हो गये। सेनेट 'नागरिक अधिकार कानून' पास करे, इसके लिए और भी कई तरफ से आवाज़ें उठने लगी। उसके बाद आया डॉ० किंग का नारा—'वाशिंगटन चलो'। दो लाख गोरे और काले लोग इस यात्रा में शामिल हुए। इतना बड़ा जुलूस पहले कभी अमरीका में नहीं देखा गया था। लिंकन मेमोरियल के साये में खड़े होकर डॉ० किंग ने अपना ऐतिहासिक भाषण दिया—"मेरा सपना है कि एक दिन सब घाटियाँ ऊपर उठ आएँगी और सारी पहाड़ियाँ नीचे झुक जाएँगी।" 'नागरिक अधिकार कानून' के पास होने में इस प्रदर्शन की बहुत बड़ी देन थी। वह अवसर आ गया था जिसकी नीग्रो जाति प्रतीक्षा कर रही थी। गोरे लोगों ने ही उन्हें कद्र से देखना शुरू नहीं किया, खुद अपनी नजर में उनकी कद्र काफी बढ़ गयी।

१४ अक्तूबर १९६४ को डॉ० किंग एटलांटा अस्पताल में अपनी डॉक्टरी जाँच करा रहे थे जब उन्हें नोबेल शान्ति पुरस्कार का समाचार मिला। डॉ० किंग ने कहा था कि यह पुरस्कार व्यक्तिगत रूप से उनके लिए नहीं, पूरी संघर्षशील नीग्रो जातिके लिए है। पुरस्कार की पूरी रकम उन्होंने 'नागरिक अधिकार आन्दोलन' को सौंप दी। साथ ही यह भी कहा "मैं अब तक अपने काम से वह शान्ति और भ्रातृ-भाव नहीं ला सका जो इस पुरस्कार का आधार है।"

पुरस्कार प्राप्ति के बाद अमरीका लौटकर उन्होंने नये सिरे से अपने को अपने काम में लगा दिया। सेल्मा में नीग्रो वोटरों के पंजीकरण का

संघर्ष शुरू हुआ । सेल्मा के शेरिफ़ जेम्स क्लार्क ने संघर्ष को कुचलने की हर नीति अपनायी । ७,००० व्यक्तियों को बंदी बना लिया । फिर भी दल-के-दल नीग्रो यह गाते हुए बंदी होने आते रहे, हम विजयी होंगे ।" और वह रात आयी जब एक युवा लकड़हारे के पेट में गोली दाग दी गयी । लोग बहुत उत्तेजित हो उठे । डॉ० किंग ने कहा—"वे लोग सेल्मा से मांटगोमरी अभियान करेंगे ।" ७ मार्च को इतवार के दिन अभियान का आयोजन हुआ । लोग एक गिरजाघर में जमा होकर दो-दो की पंक्ति में उस पुल की ओर चल दिये जो उन्हें एलाबामा नदी के पार ले जा सकता था । मगर पुल से पहले ही उन्हें रोक लिया गया । आदेश दिया गया कि दो मिनट के अंदर वे तितर-बितर हो जायें । इस पर भी जुलूस खामोश रुका रहा, तो पुलिस कार्यवाही शुरू हो गयी—लाठी चार्ज और अश्रु-गैस । साथ फ़ब्तियाँ : "मार्च करना चाहते हो, निगर ? लो करो मार्च !"

देश-भर में सहानुभूति की लहरें उठ आयीं । सब तरफ से पुलिस की इस कार्यवाही का विरोध किया गया । डॉ० किंग ने देश की आत्मा को जगाने के लिए एक और वैसे ही अभियान का आयोजन किया । उसे भी लौटा दिया गया । फिर तीसरे अभियान का आयोजन हुआ था जो मांट-गोमरी जा पहुँचा । उसके बाद संघर्ष का रुख तीव्र होता गया । डॉ० किंग ने लोगों का ध्यान अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की ओर भी दिलाया । मगर एक नीग्रो युवा वर्ग ऐसा भी था जो अधिक उग्र कार्यवाही चाहता था; डॉ० किंग की नीति से वह सन्तुष्ट नहीं था । 'रैप' ब्राउन के प्रभाव में आकर यह वर्ग प्रचण्ड हिंसा-मार्ग के ज़रिये अपने अधिकार प्राप्त करने की बात करने लगा । डॉ० किंग फिर भी अपने विचारों में स्थिर संघर्ष का अहिंसात्मक रूप बनाये रखने की बात करते रहे । कई ठोस योजनाएँ उनके हाथ में थीं जिन्हें उन्हें शीघ्र कार्यान्वित करना था । परन्तु उन्हीं दिनों उन्हें एक बुलावा आया जो मृत्यु के बुलावे में बदल गया ।

टेनेसी-स्थित मेम्फ़िस नगर में सफाई-कर्मचारियों की हड़ताल दो महीने

से चल रही थी। उनमें से अधिकांश नीग्रो थे। वे लोग अपने वेतन में कुछ वृद्धि चाहते थे। उन्होंने डॉ० किंग को बुलावा भेजा कि वे आकर उनकी दयनीय स्थिति में उनकी सहायता करें। डा० किंग ने उनके अभियान को संगठित करना स्वीकार कर लिया। उनके वहाँ आने के बाद अभियान के सिलसिले में कुछ दंगे भी हो गये। इससे नेशनल गार्ड को बुला लिया गया और कर्फ्यू लगा दिया गया। डॉ० किंग एक सप्ताह के लिए मेम्फ़िस में जाकर फिर लौट आये। उन्हें नये सिरे से अभियान का आयोजन करना था। शाम के समय बाहर निकलने से पहले वे होटल के बरामदे में निकलकर जंगले के पास आकर नीचे खड़े लोगों से बातचीत कर रहे थे। शोफ़र ने कहा कि शाम ठंडी है, वे बड़ा गरम कोट पहन लें। "अच्छा, पहन लूंगा", कहकर वे मुसकराये। और तभी सड़क के पास से आकर एक गोली उनकी गरदन और जबड़े को बींध गयी। डॉ० किंग जिस अभियान की तैयारी कर रहे थे, उससे हटकर एक और ही अभियान पर निकल गये। अमरीका के सारे नीग्रो स्तम्भित रह गये। दुनिया स्तम्भित रह गयी। उनके हत्यारे को चाहे बाद में पकड़ लिया गया, परन्तु जो क्षति हो चुकी थी, उसकी पूर्ति क्या किसी भी तरह सम्भव थी ?